पाठ्यक्रम

शिक्षा 001 : शिक्षा एवं शिक्षा के प्रयोजन

इकाई-1	**शिक्षा की अवधारणा**: अर्थ,प्रक्रिया,स्वरूप,उद्देश्य आधारभूत अवधारणाएँ, सीखना, शिक्षण, प्रशिक्षण, अनुदेशन,खोज, सूचना,आगमन व निगमन,अनुभव, अन्वेषण और संवाद।	पृ. क्र. 01-45
इकाई-2	**पाश्चात्य विचारकों का योगदान**: प्लेटो, अरस्तू, फ्रोबेल, मारिया माँटेसरी, रूसो, डीवी, पाउलो फ्रेरे, देकार्ते, स्पिनोजा,एमेनुएल काँट।	46-92
इकाई-3	**भारतीय परंपरा में शिक्षा विषयक विचार**: षड दर्शन (न्याय,सांख्य, योग, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त) के अनुसार शिक्षा, बौद्ध एवं जैन धर्म के अनुसार शिक्षा, प्रमुख भारतीय विचारकों का योगदान: महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, स्वामी विवेकानंद, जिद्दू कृष्णमूर्ति, श्री अरबिन्द, गिजू भाई।	93-164
इकाई-4	**शिक्षा और मूल्य:** मूल्यों की प्रकृति और स्रोत, समकालीन समाज में मूल्य, मूल्यों के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता, विद्यालय के संदर्भ में मूल्य का निर्माण, मूल्यों के विकास और पोषण के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका, सामाजिक संघर्ष की चुनौतियाँ और शांति स्थापना।	165-189

ईकाई - 1

शिक्षा की अवधारणा

ईकाई की संरचना

1.0 शिक्षण का उद्देश्य
1.1 इकाई परिचय
1.2 शिक्षा: अर्थ, आधारभूत अवधारणाएं, प्रक्रिया, स्वरूप तथा उद्देश्य
1.3 सीखना या अधिगम
1.4 शिक्षण, प्रशिक्षण एवं अनुदेशन
1.5 खोज, सूचना, आगमन व निगमन, अनुभव, अन्वेषण और संवाद
1.6 सारांश
1.7 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर
1.8 पारिभाषिक शब्दावली
1.9 संदर्भ पुस्तकें

1.0 शिक्षण का उद्देश्य:

1. इस इकाई का उद्देश्य छात्रों को शिक्षा संबंधी अवधारणाओं से परिचित कराना है।
2. ज्ञान प्राप्त करने की विभिन्न विधियों से छात्रोंको को परिचित कराना।

1.1इकाई परिचय:

सीखने - सिखाने की प्रक्रिया को 'शिक्षा' कहा जाता है। औपचारिक दृष्टि से अध्यापक और छात्रों के बीच सीखने - सिखाने का संबंध होता है। सामान्यरूप से यह माना जाता है कि छात्र सीखता है और अध्यापक सिखाता है। शिक्षाशास्त्र में सीखने को 'अधिगम' कहा जाता है और सिखाने की प्रक्रिया को 'शिक्षण' कहा जाता है। इस प्रकार शिक्षा अध्यापक और छात्र के बीच चलने वाली एक उद्देश्यपरक प्रक्रिया है जिसे ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया कहा जा सकता है।

प्रस्तुत इकाई में शिक्षा की अवधारणाओं तथा इस प्रक्रिया में संलग्न ज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का वर्णन किया गया है।

1.2 शिक्षा का अर्थ, आधारभूत अवधारणा, प्रक्रिया, स्वरूप, उद्देश्य:

नवजात शिशु का पालन - पोषण परिवार में माता - पिता की छत्रछाया में होता है। शिशु कीचेतना का दीप शिक्षा के द्वारा ही प्रज्वलित होता है। शिक्षा द्वारा ही बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। शारीरिक, मानसिक, भाषात्मक, सामाजिक तथा अध्यात्मिक शक्तियों का विकास शिक्षा से ही संभव होता है। जिस देश और समाज की जनता में शिक्षा का अभाव है वह देश और समाज पिछडा हुआ कहलाता है। शिक्षा के अभाव के कारण देश और समाज की विकास एवं उन्नति नहीं हो पाती है। अतः शिक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति लिए उत्तरदायी है।

- **शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education) :**

'शिक्षा' शब्द संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से निकला है जिसका तात्पर्य है 'सीखना'और 'सिखाना' है| इससे यह भी प्रकट होता है कि शिक्षा के अंन्तर्गत सीखने तथा सिखाने की क्रिया होती है। 'Education' शब्द का अर्थ है - 'शिक्षा देना', 'उपर उठाना', 'पालन करना'। 'ऐजुकेशन' (Education) शब्द को 'Educo' से निकला हुआ बताते है। उसके अनुसार 'E'का अर्थ होता है - "बाहर निकलना"एवं 'DUCO'का अर्थ होता है"पथ प्रदर्षित करना"।अतः हम शिक्षा का अर्थ - "विकास की ओर चलनेवाली एक सतत क्रिया के रुप में देख सकते है। शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया हैं जिसके द्वारा बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास किया जाता है।

- **शिक्षा की अवधारणा (Concept of Education):**

अनेक दार्शनिकों एवं चिंतकों ने समय काल, एवं परिस्थितियों के सापेक्ष 'शिक्षा' को समझने एवं समझाने का प्रयास किया है। उनके विवेचन में विविधता होने के बावजूद कुछ सामान्य तत्व उभर कर सामने आए है। शिक्षा से मनुष्य में मनुष्यत्व का भाव जागृत कर उसके जीवन को श्रेष्ठता की ओर अग्रसर करती है।

शिक्षा की भारतीय अवधारणा (Indian concept of Education):

भारत में शिक्षा को 'विद्या'कहा जाता है। 'विद्या' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'विद्'धातु से मानी जाती है। जिसका अर्थ 'जानना'या 'सीखना' होता है। भारतीय प्राचीन वाड्.मय में शिक्षा के लिए एक अन्य शब्द 'ज्ञान'भी प्रयुक्त किया गया है। 'ज्ञान'ही मनुष्य के जीवन में प्रकाश डाल सकता है। शिक्षा व्यक्ति को सत्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है। कहा गया है - 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात विद्या कष्टों से मुक्ति दिलाती है। 'नहिज्ञानेन सदृश्य पवित्रमिहं विद्यते' अर्थात ज्ञान जीवन को पवित्र बनाता है।

भारतीय विद्वानों द्वारा दी गयी शिक्षा की परिभाषाएँ :

शिक्षा का व्यापक अर्थ भारतीय विद्वानो की निम्नांकित परिभाषाओं से स्पष्ट होता है।

"मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है|

- स्वामी विवेकानंद

"शिक्षा से मेरा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो बालक एवं मनुष्य के शरीर,मन एवं आत्मा के सर्वोत्कृष्ट रूपों को प्रस्फुटित कर दे"।

- महात्मा गांधी

"बालक एवं मानव में पूर्णरूप से शारीरिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक बल की सर्वांगीण उन्नति हो"।

- श्री अरबिंद घोष

"जीवन को समझना अपने आप को समझना है और ये दोनों शिक्षा का प्रारंम्भ तथा अन्त है"।

- कृष्णमूर्ती

"सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमें केवल सूचनाएं नहीं देती परन्तु हमारे जीवन और संपूर्ण सृष्टि से तादात्म्य स्थापित करती है।

- रवीन्द्रनाथ टैगोर

"शिक्षा एक प्रक्रिया है,एक सामाजिक कार्य है, जो समाज अपने हित के लिए करता है"।

- बी. एन. झा.

"शिक्षा मानव को सुसंस्कृत बनाने का माध्यम है|

- शिक्षा नीति, 1986

शिक्षा की पाश्चात्य अवधारणा (Western Concept of Education):

पाश्चात्य विचारकों का मानना है कि मानव सभ्यता के विकास से पूर्व शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। पश्चिमी देशों में सभ्यता का विकास सर्वप्रथम मिस्र (इजिप्ट) में हुआं। तब धार्मिक संस्थाओं तथा राज दरबारों द्वारा शिक्षा दी जाती थी जिसका स्वरुप मुख्यतः व्यावहारिक था तथा इसमें शारीरिक, सामाजिक एवं नैतिक शिक्षा को महत्व दिया जाता था। बाद में शिक्षा में व्यक्तित्व विकास को भी महत्व दिया जाने लगा। इस समय शिक्षा राज्य के नियंत्रण में न होकर पूर्णतया स्वंतत्र थी। शिक्षा की अवधारणा के विकास में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि विद्वानोंकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। 10 वीं एवं 11 वीं शताब्दी में लोगों का आकर्षण इसाई धर्म के प्रति बढ़ने के कारण शिक्षा का स्वरुप धार्मिक होने लगा। धर्म के अलावा शिक्षा पर राजनीतिक एवं औद्योगिक संगठनों का प्रभाव पड़ा। 14 वीं से 16 वीं शताब्दी तक पाश्चात्य शिक्षा में मानवतावाद की प्रवृत्ति बढ़ी तथा व्यक्तित्व विकास पर बल दिया जाने लगा। इस काल के बाद पाश्चत्य शिक्षा में यथार्थवाद, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा दर्शन के विवेचनों पर आधारित हो कर विकसित हुई है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई शिक्षा की प्रमुख परिभाषाएँ :

"शिक्षा व्यक्ति के शरीर तथा आत्मा में निहित उस समस्त सौंदर्य और पूर्णता को विकसित करती है जिसकी उसमें क्षमता है"।

- प्लेटो

"शिक्षा एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक की अन्तःशक्तियों को बाहर लाया जाता है"।

- फ्रोबेल

"शिक्षा मनुष्य की अंतःशक्तियों का स्वाभाविक, सुव्यवस्थित एवं प्रगतिशील विकास है।"

- पेस्टालाजी

"शिक्षा व्यक्ति की शक्ति का और विशेष रुप से मानसिक शक्ति का विकास करती है, जिससे कि वह परमसत्य, शिव और सुन्दर के चिंतन का आनंद उठा सके"।

- अरस्तु

"शिक्षा का तात्पर्य संसार के उन सर्वमान्य विचारों को प्रकट करने से है, जो प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में निहित है"|

- सुकरात

"शिक्षा शारीरिक एवं मानसिक रुप से विकसित सचेतन मानव का अपने बौद्धिक, संवेगात्मक एवं ऐच्छिक वातावरण से सर्वोत्तम सामंजस्य स्थापित कराती है"।

- हार्न

"शिक्षा व्यक्ति की उन सभी आन्तरिक शक्तियों का विकास है जो उसे वातावरण के नियंत्रण में समर्थ बनायेगी तथा उसकी सभी संभावनाओं की प्राप्ति करायेगी"।

- जॉन डीवी

"शिक्षा नैतिक चरित्र का उचित विकास है"।

- हरबार्ट

"शिक्षा एक ऐसी सुनियोजित प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्तित्व का विकास करने के लिये उस पर दूसरे व्यक्तित्व का मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा प्रभाव पड़ता है।"- एडम्स

- **शिक्षा-प्रक्रिया (Education Process):**

शिक्षा-प्रक्रिया को भली - भांति समझने के लिए आवश्यक है कि हम पहले इसकी विशेषताओं को जानें। शिक्षा प्रक्रिया की विशेषताओं से शिक्षा की प्रक्रिया स्पष्ट होती है | शिक्षा प्रक्रिया की विशेषतायें निम्नांकित हैं-

1) शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है

हिन्दू दर्शन के अनुसार शिक्षा प्रक्रिया जन्म से पूर्व तभी आरम्भ हो जाती है जब बच्चा माता के गर्भ में ही रहता है महाभारत की कथा के अनुसार अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को बेधना अपनी माता सुभद्रा के गर्भमें ही ही सीख लिया था। अर्थात् शिक्षा जन्म से आरम्भ होती है तथा मृत्यु पर्यन्त तक चलती है।

2) शिक्षा एक विकासात्मक प्रक्रिया है

रूसो का कहना है कि, "शिक्षा अन्दर के विकास को कहते है न कि बाहर के विकास को | ऐसा ही विचार पेस्टालाजी का भी है कि, "शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक एवं प्रगतिशील विकास है"।गांधीजी का कहना है कि, "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक तथा मनुष्य के शरीर,मन और आत्मा में अन्तर्निहित सर्वोत्तम शक्तियों के सर्वांगीण विकास से है"।

3) शिक्षा एक समग्र प्रक्रिया

शिक्षा प्रक्रिया में व्यक्ति का समग्र विकास होता है न कि अलग - अलग। इसमें विकसित होने वाले अंग साथ - साथ कार्य करते हैं|जैसे मस्तिष्क की पेशियां भी कार्यरत रहती हैं शरीर के साथ - साथ मानसिक विकास भी होता है।

4) शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया

एडम्स का मत है कि शिक्षा एक द्विमुखी प्रक्रिया है। इसके एक ओर विद्यार्थी और दूसरी ओर शिक्षक रहता है। रास महोदय ने भी एडम्स के इस मत का समर्थन किया है और कहा है कि, "चुम्बक की तरह शिक्षा के भी दो ध्रुव हैं। शिक्षा की प्रक्रिया में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। इस प्रक्रिया में अनेक घटक शामिल होते हैं। व्यापक दृष्टिकोण से इसमें देश,समाज,स्कूल,अध्यापक, छात्र तथा

अभिभावक किसी न किसी रुप में इस प्रक्रिया में सम्मिलित होते हैं। एक कहता है,दूसरा सुनता है,एक पढ़ता है,दूसरा पढ़ाता है। शिक्षा तो छात्र को अध्यापक से भी अधिक महत्वपूर्ण मानती है। ड्युवी ने शिक्षा को समाजीकरण की प्रक्रिया कहा है।

5) शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है

एडम्स की बात को ड्युवी ने भी माना है,किन्तु उसके साथ एक और तत्व जोड़कर उसने शिक्षा को द्विमुखी के बदले त्रिमुखी कहा है। इसमें शिक्षक एवं छात्र के अलावा सामाजिक तत्वों का भी योगदान होता है और इसका महत्व उन दोनों से कम नहीं होता है।

शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया

(प्राथमिकता के आधार पर)

6) शिक्षा एक पंचमुखी प्रक्रिया

20 वी शताब्दी के अन्त और 21 वी शताब्दी के आरम्भ होते - होते शिक्षा की प्रक्रिया में कई और घटक भी जुड़ गये हैं| शिक्षा प्रक्रिया में छात्र, शिक्षक, विषय तथा पाठ्येत्तर क्रियाओं के साथ - साथ वर्तमान तथा भविष्य की मांग और जनसंचार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है| वर्तमान एवं भविष्य के लिये छात्रों को सक्षम बनाने में शिक्षा का योगदान महत्वपूर्ण है| शिक्षा के प्रसार में जनसंचार की भूमिका अहम् है|

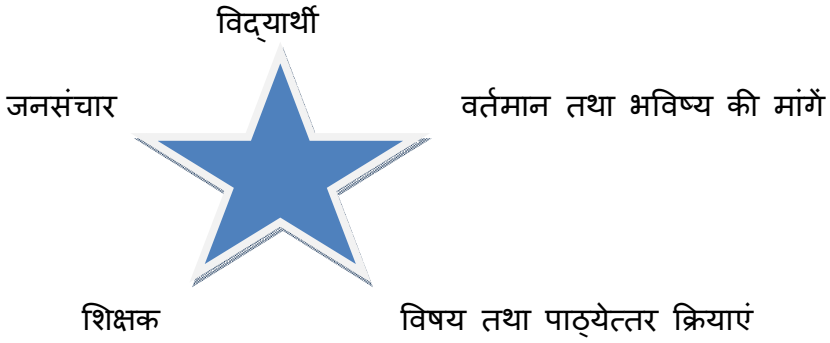

शिक्षा का समकालीन स्वरुप

7) शिक्षा एक चेतन एवं प्रयोजनशील प्रक्रिया है

एड्म्स ने लिखा है कि "शिक्षा एक सचेतन एवं विचारप्रधान प्रक्रिया है|जिसमें एक व्यक्ति दूसरे पर इसलिए प्रभाव डालता है कि दूसरे का विकास और परिवर्तन हो सके"।इसलिए शिक्षा प्रयोगविहीन प्रक्रिया नहीं हो सकती । शिक्षा व्यक्ति के निर्माण एवं लाभ के लिए होती है। इससे व्यक्ति को चेतना प्राप्त होती है और वह अपना लक्ष्य प्राप्त करता है।

8) शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है

शिक्षा स्थिर नहीं, विकासोन्मुख है। इसमें परिवर्तन होता है। शिक्षा के गतिशील स्वरुप को सभी शिक्षाशास्त्री स्वीकार करते हैं। शिक्षा जीवन के लिए है। एक तरह से शिक्षा स्वंय जीवन है। जीवन विकास है, जीवन का अर्थ गति है। इस प्रकार शिक्षा गतिशील है। इसी को ध्यान में रखकर रेमंड ने लिखा है कि, शिक्षा विकास का वह क्रम है,जिसमें व्यक्ति की शैशवावस्था से प्रौढावस्था तक की वे क्रियाएं निहित हैं,जिनके द्वारा वह अपने को धीरे - धीरे भिन्न - भिन्न तरीकों से अपने भौतिक,सामाजिक एवं अध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बनाता है"।

ड्यूवी के अनुसार "शिक्षा व्यक्ति की उन सभी क्षमताओं का विकास है,जिससे व्यक्ति वातावरण पर नियंत्रण करने योग्य बनता है"|

9) शिक्षा परिवर्तन है

शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार एवं आचार - विचार में परिवर्तन लाती है। जन्म के समय बालक असहाय, अव्यावहारिक एवं अशिक्षित होता है। शिक्षा ही उसे व्यावहारिक, शिक्षित,सभ्य,सुसंस्कृत एवं परिष्कृत बनाती है। शिक्षा क्षमता में परिवर्तन लाती है और बालक को क्षमताशील बनाती है| वह अज्ञान के बदले ज्ञान का भण्डार भरती है तथा विचारों, आदर्शों एवं अभिप्रेरणाओं में परिवर्तन लाती है। हमारी दुनिया में होने वाले सभी परिवर्तन शिक्षा के माध्यम से ही आते हैं।

10) शिक्षा व्यक्ति को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया है

शिक्षा व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्रशिक्षण देती है | वह व्यक्ति को भौतिक एवं मानसिक दोनों ही क्षेत्रों में प्रशिक्षण प्रदान करती है। भौतिक क्षेत्र में प्रशिक्षण देकर शिक्षा व्यक्ति को रोजी - रोटी के लिये तैयार करती है तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ करती है। मानसिक क्षेत्र में प्रशिक्षण से तरह - तरह के ज्ञान और कौशल का विकास होता है |

11) शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है

शिक्षा प्रक्रिया व्यक्ति को शून्य में नहीं अपितु सामाजिक वातावरण में प्रशिक्षित करती है।

12) शिक्षा उद्देश्ययुक्त प्रक्रिया है

शिक्षा प्रक्रिया केवल शिक्षा के लिए नहीं है अपितु इसका एक निश्चित प्रयोजन होता है। घर, परिवार, समुदाय, बाजार आदि में अन्य व्यक्तियों के साथ हमारा संपर्क होता है और उनके साथ अंतःक्रिया द्वारा वह सीखता है |

13) शिक्षा एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है

शिक्षा में छात्रों की रुचियों, अभिरुचियों, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है।

14) शिक्षा एक गतिशील प्रक्रिया है

शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों आदि में समय के अनुसार परिवर्तन किये जाते हैं।

15) शिक्षा सर्वोत्तम विकास की प्रक्रिया है

गांधीजी ने शिक्षा का अर्थ मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का उत्कृष्ट विकास से माना है।

16) शिक्षा प्रक्रिया वैज्ञानिक तथा कलात्मक है

शिक्षा को विज्ञान तथा कला दोनों की संज्ञा दी जाती है। इससे शिक्षा की व्यापकता का पता चलता है|

17) शिक्षा व्यक्तिगत तथा सामाजिक संयोजन की प्रक्रिया है

शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति तथा समाज में सामंजस्य स्थापित करने में अहम् भूमिका निभाती है।

18) शिक्षा ज्ञानात्मक - क्रियात्मक तथा कौशल्यात्मक - भावात्मक प्रक्रिया है।

शिक्षा में विषयों का ज्ञान दिया जाता है। साथ में उसमें कौशलों तथा मूल्यों को धारण करने हेतु प्रशिक्षण दिया जाता है।

19) शिक्षा प्रक्रिया तथा परिणाम दोनों ही है

किलपैट्रिक तथा क्राउडी आदि ने शिक्षा को प्रक्रिया और परिणाम दोनों माना है। शिक्षा, शिक्षण - प्रशिक्षण तथा सामाजिक अनुभवों का परिणाम होती है।

20) शिक्षा सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक है

शिक्षा ज्ञानात्मक तथा व्यावहारिक है। शिक्षा बच्चे का बौद्धिक विकास करती है तथा सदैव प्रगति करते रहने की कला का विकास भी करती है।

• शिक्षा प्रक्रिया का स्वरूप (Nature of Educational Process):

1) दिमुखी और त्रिमुखी प्रक्रिया

एड्म्स के अनुसार शिक्षा एक दिमुखी प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है जिसके फलस्वरुप उसके व्यवहार में परिवर्तन हो जाए। वह प्रक्रिया केवल चेतन ही नहीं अपितु उद्देश्य के साथ या विचारपूर्ण भी है। इसमें शिक्षक का एक स्पष्ट प्रयोजन होता है और वह उसी के अनुसार बालक के व्यवहार में विभिन्न साधनों के द्वारा परिवर्तन करता है |

एडम्स के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा दो ध्रुवीय प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का एक ध्रुव शिक्षक है और दूसरा विद्यार्थी है | एडम्स के अनुसार शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक और बालक दोनों के बीच परस्पर आदान - प्रदान होता है। रास भी इसी मत को मानने वाले है| वे कहते हैं कि, "शिक्षा चुम्बक की तरह दो ध्रुवीय होती है। शिक्षक को क्या पढ़ाना है और छात्र को क्या पढ़ना है यह संकेत पाठ्यक्रम से ही मिलता है"|जॉन डीवी ने शिक्षा प्रक्रिया को तीन ध्रुवीय माना है - जिसमें, शिक्षक, छात्र और पाठ्यक्रम शामिल हैं|

2) औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा

औपचारिक शिक्षा का जन्म अनौपचारिक शिक्षा की अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए हुआ। अतः औपचारिक शिक्षा उस शिक्षा को कहते हैं,जिसमें शिक्षार्थी किसी कार्यक्रम के अनुसार नियंत्रित वातावरण में रहते हुए किसी पूर्वनिश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए,निश्चित पाठ्यक्रम (ज्ञान) को निश्चित शिक्षण - पद्धति के द्वारा निश्चित स्थान पर निश्चित समय में समाप्त करके परीक्षा देकर उपाधि ग्रहण कर

लेता है। इस प्रकार औपचारिक शिक्षा कृत्रिम होती है तथा इसका मुख्य साधन तो स्कूल हैपरन्तु पुस्तकालय अजायबघर , चित्रभवन तथा पुस्तकें आदि भी औपचारिक शिक्षा के ही साधन होते हैं।

अनौपचारिक शिक्षा वह है,जो आकस्मिक तथा स्वाभाविक होती है। ऐसी शिक्षा में औपचारिक शिक्षा की भांति निश्चित योजना तथा उद्देश्य के अनुसार पाठयक्रम, शिक्षण पद्धति, स्थान,समय तथा शिक्षक आदि पूर्व निश्चित न होने अपितु उन्हें शिक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बनाया जाता है। यही नहीं, अनौपचारिक शिक्षा में औपचारिक शिक्षा की भांति पहले से की हुई तैयारी की भी आवश्यकता नहीं होती। कभी - कभी तो सीखने ओर सिखाने वाले को यह भी पता नहीं चलता कि वह क्या सीख रहा है तथा उसे क्या सिखाया जा रहा है। वस्तुस्थिति यह है कि अनौपचारिक शिक्षा का सम्बन्ध बालक के विकास से होता है। ऐसी शिक्षा को बालक परिवार,समाज,धर्म तथा खेल के मैदानों आदि साधनों के द्वारा स्वतंत्र वातावरण में रहते हुए स्वाभाविक रुप से ग्रहण करके विकसित होता रहता है।

3) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शिक्षा

प्रत्यक्ष शिक्षा उस शिक्षा को कहते हैं, जिसमें शिक्षक और बालक एक - दूसरे के आमने - सामने हों तथा शिक्षक जानबूझकर पूर्व योजना के अनुसार किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक निश्चित शिक्षण - पद्धति का अनुसरण करते ही बालक को निश्चित प्रकार का ज्ञान दे। ऐसी शिक्षा में शिक्षा के औपचारिक साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में,जब बालक के समक्ष शिक्षक इस प्रकार का नियंत्रित वातावरण प्रस्तुत करे,जिसमें रहते हुए उसके व्यक्तित्व का बालक के ऊपर सीधा प्रभाव पड़े तो ऐसी शिक्षा को प्रत्यक्ष शिक्षा कहते हैं।

अप्रत्यक्ष शिक्षा उस शिक्षा को कहते हैं जिसमें शिक्षा किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किसी निश्चित शिक्षण पद्धति के द्वारा नहीं दी जाती अपितु स्वतंत्र वातावरण में अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा ग्रहण की जाती है,उनकी रचना किसी अन्य प्रयोजन से ही होती है,भले ही लोग उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण कर लें।

4) सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा

सामान्य शिक्षा को उदार शिक्षा (Liberal Education) भी कहते है। ऐसी शिक्षा का लक्ष्य सामान्य होता है तथा यह हर बच्चे के लिए निश्चित स्तर तक सामान्य रुप से अनिवार्य होती है। सामान्य शिक्षा केवल बौद्धिक क्षमता को तीव्र करने के लिए दी जाती है,जिससे बालक सामान्य जीवन के लिए तैयार हो सके।

विशिष्ट शिक्षा का लक्ष्य विशिष्ट होता है। ऐसी शिक्षा विशिष्ट रुचि, योग्यता एवं क्षमता वाले बच्चे के लिए ही होती है। विशिष्ट शिक्षा बच्चे को खास प्रकार के जीवन अथवा व्यवसाय के लिए तैयार करती है। प्रत्येक दशा में कुछ निश्चित अवस्था तथा निश्चित स्तर तक के बालकों को सामान्य शिक्षा देने के बाद उनकी रुचियों,योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार प्रदान की जाय। ऐसी शिक्षा को प्राप्त करने के पश्चात शिक्षार्थी से यह आशा की जाती है कि वह एक विशिष्ट क्षेत्र में कुशलतापूर्वक कार्य करके अपनी तथा अपने देश की आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगा। डॉक्टरी तथा इंन्जीनियरी की शिक्षा विशिष्ट शिक्षा के उदाहरण हैं।

5) व्यक्तिकेन्द्रित तथा सामूहिक शिक्षा

व्यक्तिकेन्द्रित शिक्षा उस शिक्षा को कहते हैं,जो किसी बच्चे को दूसरे बच्चेसे अलग रखकर उसकी रुचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार प्रदान की जाये| व्यक्तिकेन्द्रित शिक्षा प्राप्त करते समय बच्चा स्वतंत्रता का अनुभव करता है। इससे उसे ज्ञान प्राप्त करने में सुविधा होती है। चूंकि व्यक्तिकेन्द्रित शिक्षा के अन्तर्गत हर बालक की खास व्यक्तिकेन्द्रित आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है,इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ऐसी शिक्षा अत्यंत लाभप्रद होती है।

सामूहिक शिक्षा वह है,जिसके द्वारा बहुत से शिक्षार्थियों को एक ही स्थान पर कुछ व्यक्ति केन्द्रित विषयों का ज्ञान दिया जाये। ऐसी शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है किइस में प्रत्येक शिक्षार्थी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा जा सकता। सामूहिक शिक्षा प्रदान करते समय शिक्षक को प्रखर तथा मंद बुद्धिवाले बच्चे की उपेक्षा करके सामान्य बुद्धि के बच्चों के साथ चलना पडता है। चूंकि सामूहिक शिक्षा में व्यय कम होता है इसलिए आधुनिक स्कूलों तथा कालेजों में शिक्षा के इसी रुप को अपनाया जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims Education) :

शिक्षा के उद्देश्य : भारतीय अवधारणा (Aims of Education :The Indian view)

(1) पवित्रता तथा जीवन की सदभावना

भारत में प्रत्येक शिक्षार्थी में पवित्रता तथा धार्मिक जीवन की भावनाओं को विकसित करना शिक्षा का प्रथम उद्देश्य रहा है|शिक्षा आरम्भ होने से पूर्व प्रत्येक बालक का उपनयन संस्कार, शिक्षा प्राप्त करते समय अनेक प्रकार के व्रत धारण करना, प्रात: तथा सायंकाल ईश्वर की महिमा का गुणगान करना तथा गुरुकुल में रहते हुए धर्मिक त्योहारों को मनाना आदि सभी बातें बालक के मस्तिष्क में पवित्रता तथा आध्यात्मिक दृष्टि से पुष्ट करती है| इस प्रकार साहित्यिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का उद्देश्य बालक को समाज का योग्य,पवित्र तथा उपयोगी सदस्य बनाना है|

(2) चरित्र - निर्माण

भारतीय शिक्षा का दूसरा उद्देश्य - बालक के नैतिक चरित्र का निर्माण करना है। भारतीय दार्शनिकों का अटल विश्वास था कि केवल लिखना - पढ़ना ही शिक्षा नहीं है वरन् नैतिक भावनाओं को विकसित करके चरित्र का निर्माण करना भी आवश्यक है। मनुस्मृति के अनुसार ऐसा व्यक्ति जो सच्चरित्र हो चाहे उसे वेदों का ज्ञान भले ही कम हो, उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है,जो वेदों का पंडित होते हुए भी

शुद्ध जीवन व्यतीत न करता हो। अतः प्रत्येक बालक के चरित्र का निर्माण करना उस युग में आचार्य का मुख्य कर्तव्य समझा जाता था। इस सम्बन्ध में प्रत्येक पुस्तक के पन्नों पर सूत्र रूप में चरित्र सम्बन्धी आदेश लिखे रहते थे तथा समय- समय पर आचार्य के द्वारा नैतिकता के आदेश भी दिये जाते थे एवं बालकों के समक्ष राम, लक्ष्मण, सीता तथा हनुमान आदि महापुरुषों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा का वातावरण चरित्र - निर्माण में सहयोग प्रदान करता था।

(3) व्यक्तित्व का विकास

बालक के व्यक्तित्व को पूर्णरूपेण विकसित करना प्राचीन शिक्षा का तीसरा उद्देश्य था। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए बालक में आत्म - सम्मान की भावना को विकसित करना परम आवश्यक समझा जाता था। अतः प्रत्येक बालक में इस महान गुण को विकसित करने के लिए आत्म - विश्वास, आत्म-निर्भरता, आत्म-नियंत्रण तथा विवेक एवं निर्णय आदि अनेक गुणों एवं शक्तियों को पूर्णतः विकसित करने का अथक प्रयास किया जाता था।

(4) नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का विकास

भारत की प्राचीन शिक्षा का चौथा उद्देश्य था - नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का विकास करना। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इस बात पर बल दिया जाता था कि मनुष्य समाजोपयोगी बने,स्वार्थी नहीं। अतः बालक को माता - पिता,पुत्र तथा पत्नी के अतिरिक्त देश अथवा समाज के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करना सिखाया जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे नागरिकों का निर्माण करती थी,जो अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए समाज की उन्नति में भी यथाशक्ति योगदान दे सके।

(5) सामाजिक कुशलता तथा सुख की उन्नति

सामाजिक कुशलता तथा सुख की उन्नति करना प्राचीन शिक्षा का पांचवां उद्देश्य था। इस उद्देश्य की प्राप्ति भावी पीढ़ी को ज्ञान की विभिन्न शाखाओं व्यवसायों तथा उद्योगों में प्रशिक्षण देकर की जाती थी। तत्कालीन समाज में कार्य - विभाजन का सिद्धान्त प्रचलित था। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी सामान्य व्यक्ति के लिए यही उचित थाकि वह अपने परिवार के व्यवसाय को ही अपनाये। इससे प्रत्येक व्यवसाय की कुशलता में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप सामाजिक कुशलता एवं सुख की निरन्तर उन्नति होती रही।

(6) संस्कृति का संरक्षण तथा विस्तार

राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा संस्कृति का संरक्षण एवं विस्तार भारत की प्राचीन शिक्षा का छठा महत्वपूर्ण उद्देश्य था। प्राचीन काल में हिन्दुओं ने अपने विचार तथा संस्कृति के प्रचार हेतु शिक्षा को उत्तम साधन माना। अत: प्रत्येक हिन्दू अपने बालकों को वही शिक्षा देता था, जो उसने स्वयं प्राप्त की थी। यह प्राचीन आचार्यों के घोर परिश्रम का ही फल है कि हमारा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य आज भी ज्यों का त्यों सुरक्षित है। डॉ. ए. एस. अल्तेकर ने ठीक ही लिखा है - "हमारे पूर्वजों ने प्राचीन युग के साहित्य की विभिन्न शाखाओं के ज्ञान को सुरक्षित ही नहीं रखा अपितु अपने यथाशक्ति योगदान द्वारा उसमें निरन्तर वृद्धि करके उसे मध्य युग तक भावी पीढ़ी कोहस्तान्तरित किया।"

प्राचीन युग की शिक्षा पद्धति ऐसी थी,जिसमें भारतीय जीवन तथा बालक के शारीरिक,मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार के विकास का व्यापक दृष्टिकोण निहित था।

मध्ययुग में भारतीय शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Educational in Medividual India)

भारत के मध्य युग की शिक्षा का अर्थ इस्लामी अथवा मुस्लिम शिक्षा से है। मुस्लिम शिक्षा के उद्देश्य अग्रलिखित हैं -

(1) इस्लाम का प्रसार

इस्लामी शिक्षा का पहला उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रसार करना था। अतः जगह-जगह मकतब और मदरसे खोले गये। प्रत्येक मस्जिद के साथ एक मकतब खोला जाता था, जिसमें मुस्लिम बालकों को कुरान पढ़ाया जाता था। साथ ही मदरसों में इंस्लाम का इतिहास,दर्शन तथा उच्च प्रकार की धर्म सम्बन्धी शिक्षा प्रदान की जाती थी।

(2) मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार

मुस्लिम शिक्षाशास्त्रियों का विश्वास था कि शिक्षा के ही द्वारा मुसलमानों को धार्मिक तथा अधार्मिक बातोंका अन्तर समझाया जा सकता है। अतः मुसलमानों को शिक्षा प्रदान करना इस्लामी शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था।

(3) इस्लामी राज्यों में वृद्धिकरण

इस्लामी शिक्षा का तीसरा उद्देश्य इस्लामी राज्यों में वृद्धि करना था। इस उद्देश्यको प्राप्त करने के लिए लिए मुसलमानोंको लड़ने की कला सिखाई जाती थी, जिससे वे इस्लामी राज्यों में वृद्धि कर सकें।

(4) नैतिकता का विकास

इस्लामी शिक्षा का चौथा उद्देश्य नैतिकता का विकास करना था। इसे प्राप्त करने के लिए मुस्लिम बच्चों से नैतिक पुस्तकों का अध्ययन कराया जाता था।

(5) भौतिक सुखों को प्राप्त करना

इस्लामी शिक्षा का पांचवां उद्देश्य भौतिक सुखों को प्राप्त करना था। इसके लिए बालकों को उपाधियां तथा मौलवियों को ऊंचे -ऊंचे पद दिये जाते थे जिससे वे भौतिक सुखों का आनन्द ले सकें।

(6) शरियत का प्रसार

इस्लामी शिक्षा का छठा उद्देश्य शरियत के कानूनों को लागू करना था। अतःशिक्षा द्वारा इस्लाम के कानून, राजनैतिक सिद्धान्त तथा इस्लाम की सामाजिक परम्पराओं का प्रसार किया गया।

(7) चरित्र निर्माण

मोहम्मद साहब का विश्वास था कि केवल चरित्रवान व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है। अतः इस्लामी शिक्षा का सातवाँ उद्देश्य चरित्र निर्माण था | शिक्षा द्वारा मुसलमान बालकों के चरित्र का निर्माण करना था।

वर्तमान भारत में शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Euducation in Mordern India)

भारतवर्ष हजारों वर्षो तक दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहा। इसलिए न हमारी शिक्षा भारतीय संस्कृति पर ही आधारित रही और न ही हमारी शिक्षा का कोई राष्ट्रीय उद्देश्य रह सका। 15 अगस्त1947 को हमारे यहां विदेशी नियंत्रण समाप्त हुआ। उसी दिन से भारत एक सर्वसत्ता लोकतंत्रात्मक गणराज्य है। ध्यान देने की बात है कि जनतंत्र की बागडोर उन नागरिकों के हाथ में होती है, जो आज के स्कूलों में पढ़ रहे है। दूसरे शब्दों में जनतंत्र की आत्मा शिक्षा होती है। अतः हमारी जनतंत्रीय सरकार, शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिक तथा समाज सुधारकों ने शिक्षा को भारतीय संस्कृति पर आधारित करने तथा नये जनतांत्रिक समाज को सफल बनाने के लिए, शिक्षा के उचित उद्देश्यों के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की। अतः भारत सरकार ने- (1) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, (2) माध्यमिक शिक्षा आयोग तथा (3) कोठारी आयोग की नियुक्ति की। इन आयोगों ने समाज तथा व्यक्ति की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों को निर्धारित किया है-

(अ) विश्वविद्यालय आयोग के अनुसार शिक्षा केउद्देश्य (1948-49)

विश्वविद्यालय आयोग ने भारतीय शिक्षा के अग्रलिखित उद्देश्य निर्धारित किये हैं-

(1) विवेक का विस्तार करना।

(2) नये ज्ञान के लिए इच्छा जागृति करना।

(3) जीवन का अर्थ समझने के लिए प्रयत्न करना।

(4) व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करना।

(ब) माध्यमिक आयोग के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य (1952 - 53)

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने व्यक्ति तथा भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये है-

(1) जनतांत्रिक नागरिकता का विकास

भारत एक धर्म निरपेक्ष गणराज्य है। इस देश के जनतंत्र को सफल बनाने के लिए प्रत्येक बालक को सच्चा,ईमानदार तथा कर्मठ नागरिक बनाना परम आवश्यक है। अतः शिक्षा का परम उद्देश्यबालक को जनतांत्रिक नागरिकता की शिक्षा देना है। इसके लिए नागरिक के रूप में देश की राजनैतिक,सामाजिक,आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार की समस्याओं पर स्वतंत्रतापूर्वक चिन्तन और मनन करके अपना निजी निर्णय लेते हुए स्पष्ट विचार व्यक्त कर सकें। इनसभी शक्तियों का विकास बौद्धिक विकास के द्वारा किया जा सकता है। बौद्धिक विकास होने से व्यक्ति इस योग्य बन जाता है कि वह सत्य और असत्य तथा वास्तविकता और प्रचार के बीच अन्तर समझते हुए अन्धविश्वासों तथा निरर्थक परम्पराओं का उचित विश्लेषण करके अपने जीवन में आनेवाली विभिन्न समस्याओं के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा इस योग्य बनाया जाये कि वे भाषणों तथा लेखों के द्वारा अपने विचारों से जनता को प्रभावित करके अपनी ओर आकर्षित कर सके।

(2) कुशल जीवन-यापन कला की दीक्षा

शिक्षा का दूसरा उद्देश्य बालक को समाज में रहने अथवा जीवनयापन की कला में दीक्षित करना है। एकांत में रहकर न तो व्यक्ति जीवन-यापन कर सकता है और न ही पूर्णतः विकसित हो सकता है। उसके स्वयं के विकास तथा समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि वह सह अस्तित्व की आवश्यकता को समझते हुए व्यावहारिक अनुभवों द्वारा सहयोग के महत्व का मूल्यांकन करना सीखे। इस दृष्टि में सफल सामुदायिक जीवन व्यतीत करने के लिए बालकों में सहयोग सहनशीलता, सामाजिक चेतना तथा अनुशासन एवं देशभक्ति आदि अनेक सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए,जिससे प्रत्येक बालक विविधता भरे समाज का आदर करते हुए एक-दूसरे के साथ घुलमिल कर रहना सीख जाये।

(3) व्यावसायिक कुशलता की उन्नति

शिक्षा का तीसरा उद्देश्य बालकों में व्यावसायिक कुशलता की उन्नति करना है। इसे प्राप्त करने के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। अतः बालकों के मन में श्रम के प्रति आदर तथा रुचि उत्पन्न करना एवं हस्तकला के कार्य पर बल देना परम आवश्यक है। यही नहीं, पाठ्यक्रम में विभिन्न व्यवसायों को भी उचित स्थान मिलना चाहिए,जिससे सब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उस व्यवसाय को चुन सकें, जिसे वह शिक्षा समाप्त करने के बादअपनाना चाहता हो। इससे हमें जहां एक ओर विभिन्न व्यवसायों के लिए कुशल कारीगर प्राप्त हो सकेगें,वहां दूसरी ओर औद्योगिक प्रगति के कारण देश की आर्थिक दशा में भी निरन्तर सुधार होता रहेगा। इस दृष्टि से स्कूलों में व्यावसायिक क्षमता की उन्नति की ओर ध्यान देते हुए बालकों को इस बात का ज्ञान करानाआवश्यक है कि आत्म - सन्तुष्टि तथा राष्ट्रीय समृद्धि कार्य - कुशलता द्वारा ही सम्भव है।

(4) व्यक्तित्व का विकास

शिक्षा का चौथा उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करना है। व्यक्ति के विकास का तात्पर्य बालक के बौद्धिक,सामाजिक तथा व्यावसायिक तथा रचनात्मक शक्तियों के विकास से है। इस उद्देश्य के अनुसार बालकों को क्रियात्मक तथा रचनात्मक कार्यों को करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। जिससे उनमें साहित्यिक,कलात्मक एवं सांस्कृतिक आदि नाना प्रकार की रुचियों का विकास हो| इन विभिन्न रुचियों के विकास से उनकी आत्माभिव्यक्ति, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सम्पति की वृद्धि अवकाशकाल के सदुपयोग की योग्यता, तथा चहुंमुखी विकास में सहायता मिलेगी। अतः बालकों के व्यक्तित्व के विकास हेतु उन्हें रचनात्मक कार्योंमे भाग लेने के अवसर मिलने चाहिए।

(5) नेतृत्व के लिए शिक्षा

भारत को ऐसे नेताओं की आवश्यकता है, जो सभी को आदर्श नेतृत्व प्रदान कर सकें। अतः नेतृत्व की शिक्षा प्रदान करना शिक्षा का पांचवां मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य के अनुसार हमें बालकोंमें अनुशासन, सहनशीलता, त्याग आदि सामाजिक भावनाओं की समझदारी तथा नागरिक एवं व्यावहारिक कुशलता आदि गुणों को विकसित करना चाहियेजिससे वे बड़े होकर जीवन के विविध क्षेत्रों में अपने उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक निभाते हुए नेतृत्व कर सकें

(स) कोठारी आयोग के अनुसार शिक्षा केउद्देश्य(1964)

कोठारी कमीशन ने भारतीय शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये है|

(1) उत्पादन में वृद्धि

भारत में जनसंख्या की वृद्धि के साथ- साथ उत्पादन नहीं बढ़ रहा है| हम देखते है की हमारे देश में खाद्य सामग्री, वस्त्र, दवाइयां तथा कल - पुर्जे आदि आवश्यक वस्तुओं की अभी भी कमी है| इन सबके लिए हमें दूसरे देशों का मुंह देखना पड़ता है| हमें चाहिए कि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन बढे| इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए हमें कृषि तथा तकनीकी शिक्षा पर बल देने के साथ- साथ माध्यमिक शिक्षा को भी व्यावसायिक रूप देना होगा| इस संबंध में आयोग ने ऐसे सुझाव भीदिये हैं जिनसे उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है|

(2) सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का विकास

राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए राष्ट्रीय एकता आवश्यक है| इस एकता के न होने से सभी नागरिक राष्ट्रहित की परवाह न करते हुए अपने निजी हितों को पूरा करने में ही व्यस्त हो जाते हैं| इससे राष्ट्र निर्बल तथा प्रभावहीन हो जाता है| एकता की इस भावना का विकास करने में शिक्षा का विशेष योगदान है| अत: शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का विकास होना चाहिए| आयोग ने एक शैक्षिक कार्यक्रम की रुपरेखा प्रस्तुत की है जिसके द्वारा इस उद्देश्य को सफलतापूर्वक पाया जा सकता है|

(3) जनतंत्र को सुदृढ बनाना

जनतंत्र को सफल बनाने के लिए शिक्षा परम आवश्यक है| अत:जनतंत्र को सुदृढ़ बनाना शिक्षा का तीसरा उद्देश्य है| इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जनतंत्र के आदर्शों और मूल्यों को प्राप्त कर सके| आयोग ने शिक्षा के द्वारा जनतंत्र को सुदृढ़ बनाने तथा राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने के लिए कुछ ठोस सुझाव दिये हैं जो अत्यंत उपयोगी है|

(4) देश का आधुनिकीकरण

शिक्षा का चौथा उद्देश्य है- देश का आधुनिकीकरण करना|प्रगतिशीलदेशों में वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान में विकास होने के कारण दिन- प्रतिदिन नये-नये अनुसन्धान हो रहे हैं| इनके परिणामस्वरुप प्राचीन परम्पराओं, मान्यताओं तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहे हैं|इन

परिवर्तनों के कारण नये समाज का निर्माण हो रहा है| खेद का विषय है कि भारतीय समाज में अभी तक वही परम्परायें, मान्यताएँ तथा दृष्टिकोण प्रचलित है जिन्हें प्राचीन युग में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था| यदि भारत को अब उन्नतिशील राष्ट्रों के साथ- साथ चलना है तो वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान का विकास करके औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति करते हुए अपनी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, मान्यताओं एवं दृष्टिकोण में समयानुकूल परिवर्तन लाते हुए देश का आधुनिकीकरण करना होगा| चूँकि ये सभी बातें शिक्षा के ही द्वारा संभव है,इसलिए हमें शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिए जिससे यह उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त हो सके|

(5) सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना

शिक्षा का पाचवाँ उद्देश्य है - सामाजिक, नैतिक तथाअध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना| देश का आधुनिकीकरण करने के लिए कुशल व्यक्तियों का होना आवश्यक है| अत: हमको पाठ्यक्रम में विज्ञानं तथा तकनीकी विषयों के अतिरिक्त चारित्रिक विकास एवं मानवीय गुणों के विकास पर ध्यान देना होगा| अत: आयोग ने सुझाव दिया है कि पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों के साथ - साथ मानवीय मूल्य भी विकसित होते रहें और प्रत्येक नागरिक सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त कर सके|इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए भी आयोग ने अनेक सुझाव प्रस्तुत किये है|

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए :

1. शिक्षा का अर्थ बताते हुए इसके उद्देश्य और अवधारणा स्पष्ट कीजिये|

1.3 सीखना या अधिगम

शिशु जन्म के समय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने मातःपिता पर निर्भर रहता है। आयु में वृद्धि के साथ-साथ उसकी चेतनाशक्ति भी प्रबल होती जाती है जिससे वातावरण के प्रति उसकी क्रिया- प्रतिक्रिया प्रारंभ हो जाती है। वह शैशवावस्था से ही वातावरण के साथ समायोजन करने लगता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है उसका वातावरण भी विस्तृत होता जाता है और उसी के अनुसार उसके समायोजन के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है। वातावरण के साथ समायोजन करने के लिये वह अपने भौतिक,सामाजिक,आर्थिक तथा राजनीतिक वातावरण से भाषा, उठने-बैठने के तरीके, रहन-सहन,रीति-रिवाज,परम्परायें तथा कार्य करने के तरीके सीखता है। समायोजन के दौरान वह जो अनुभव अर्जित करता है,उन अनुभवों के आधार पर वह अपने व्यवहार में आवश्यक बदलाव लाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनुभवों के द्वारा व्यवहार में परिवर्तन ही सीखना है।

सीखने का अर्थ एवं परिभाषाएँ-

सीखना एक बहुत ही सामान्य प्रक्रिया है|मनोवैज्ञानिकों के अनुसार -सीखना नए ज्ञान,व्यवहार कौशल,मूल्यों या वरीयताओं को अधिग्रहित करने या वर्तमान ज्ञान,व्यवहार,कौशल आदि को संशोधित या मजबूत करने की सतत एवं अपेक्षाकृत स्थायी प्रक्रिया है|

सीखना किसी स्थिति के प्रति सक्रिय प्रतिक्रिया है। हम अपने हाथ में आम लिये चले जा रहे है। कहीं से एक भूखे बन्दर की उस पर नजर पड़ती है। वह आम को हमारे हाथ से छीनकर ले जाता है। यह भूखे होने की स्थिति में आम के प्रति बन्दर की प्रतिक्रिया है। पर यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक है,सीखी हुई नहीं। इसके विपरीत कोई बच्चा या बच्ची हाथ में आम देखता/देखती है तो वह उसे छीनता/छिनती नहीं है,वरनमाँगता या मांगती है। आम के प्रति बच्चे की यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक नहीं अपितु सीखी हुई है। जन्म के कुछ समय बाद से ही उसे अपने वातावरण से कुछ न कुछ सीखने को मिलता है। पहली बार आग को देखकर वह उसे छू लेता है और जल जाता है। फलस्वरूप उसे एक नया अनुभव प्राप्त होता है। अतः वह जब आग को फिर देखता है तो उसके प्रति उसकी प्रतिक्रिया भिन्न होती है। अनुभव ने उसे आग को न छूना सिखा दिया है। अतः वह आग से दूर रहता है। इस प्रकार ''सीखना-अनुभव द्वारा व्यवहार में परिवर्तन है।''

'सीखने' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कुछ प्रमुख परिभाषाएँ दी जा रही हैं-

1.सीखना अनुभवों के फलस्वरूप व्यवहार में कोई परिवर्तन है। **-गिलफोर्ड**

2.सीखना आदतों,ज्ञान और अभिवृत्तियों का अर्जन है। **-क्रो व क्रो**

3.सीखना,व्यवहार में उत्तरोत्तर सामंजस्य की प्रक्रिया है। **-स्किनर**

4.नवीन ज्ञान व नवीन प्रतिक्रियाओं को अर्जित करने की प्रक्रिया को अधिगम की प्रक्रिया कहते हैं|

वुडवर्थ

5.अधिगम वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक जीव, एक परिस्थिति में उसके अन्तः क्रिया के परिणाम के रूप में व्यवहार का एक नवीन प्रतिरूप अर्जित करता है,जो कुछ अंश तक स्थिरोन्मुख रहता है तथा जीव के सामान्य व्यवहार प्रतिमान को प्रभावित करता है। **- कुप्पूस्वामी**

6.सीखना-अनुभव के परिणाम स्वरूप व्यवहार में परिवर्तन द्वारा व्यक्त होता है|

- क्रानबेक

7.सीखना-अनुभव और प्रशिक्षण द्वारा व्यवहार में परिवर्तन है।

-गेट्स व अन्य

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सीखना, क्रिया द्वारा व्यवहार में परिवर्तन है, व्यवहार में हुआ यह परिवर्तन कुछ समय तक बना रहता है, यह परिवर्तन व्यक्ति के पूर्व अनुभवों पर आधारित होता है।

सीखने की प्रक्रिया जानबूझकर अथवा अनजाने में घटित होती रहती है |यह प्रक्रिया अभ्यास,प्रशिक्षण,निर्देशन,खेल-कूद उत्संस्करण ,विद्यालयी शिक्षा,अवलोकन,अनुभव आदि के माध्यम से सक्रीय रहती है |

हालाँकि व्यवहार में इस प्रकार के परिवर्तन केवल सीखने द्वारा ही नहीं लाये जाते अपितु परिपक्वन/विकास (maturation/development) एवं कुछ अन्य कारकों जैसे थकावट,बीमारी,औषधि,मादक द्रव्य,भय,क्रोध आदि के फलस्वरूप भी देखने को मिलते है |परन्तु इस प्रकार के पूर्णतया स्थायी या अस्थायी व्यवहारगत परिवर्तनों को सीखना (अधिगम) के क्षेत्र से बाहर रखते हुए शिक्षाविद सिर्फ उन परिवर्तनों की ओर ध्यान केन्द्रित करते है जो अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं एवं अनुभव,ज्ञान तथा प्रशिक्षण के माध्यम से अपनाये जाते है |

सीखने की विषेशताएँ:

योकम एवं सिम्पसन (Yoakam and Simpson)के अनुसार सीखने की विषेशतायें निम्नलिखित हैं-

1.सीखना जीवन पर्यंत चलने वाली एक सतत प्रक्रिया हैं-सीखने की प्रक्रिया जीवन भर चलती है। व्यक्ति अपने जन्म के समय से मृत्यु तक कुछ न कुछ सीखता है।

2.सीखना व्यवहार में परिवर्तन है- व्यक्ति के व्यवहारमें शोधन अथवा परिमार्जन होना ही सीखना है जिसके कारण व्यक्ति अपने पूर्व व्यवहार की अपेक्षा भिन्न व्यवहार करने लगता है।

3.सीखना सार्वभौमिक प्रक्रिया है-अपने अनुभवों से सीखने का गुण मनुष्य के साथ-साथ पशुओं में भी मिलता है।

4.सीखना अनुकूलन है-शिशु जन्म के बाद से ही किसी न किसी रूप में अपने वातावरण से समायोजन प्रारंभ कर देता है।

5.सीखना अनुभवों का संगठन है- सीखना न तो नये अनुभवों की प्राप्ति है और न पुराने अनुभवों का योग,वरन नये व पुराने अनुभवों का सगंठन है।

6.सीखना उद्देश्यपूर्ण है- सीखना उद्देश्यपूर्ण होता है। उद्देश्य जितना ही प्रबल होगा,सीखने की प्रक्रिया उतनी ही तीव्र होगी। उद्देश्य के अभाव में सीखना असफल होता है।

7.सीखना वातावरण की उपज है- सीखना वातावरण के प्रति सक्रिय अनुक्रिया के रूप में होता है। अतः माता-पिता एवं अध्यापकों को घर एवं विद्यालय में सक्रिय एवं प्रभावशाली वातावरण का निर्माण करना चाहिये जिससे बच्चे अच्छे गुणो व बातों को सीख सके।

8.सीखना खोज करना है- किसी बात की खोज करना भी सीखना है। व्यक्ति विभिन्न प्रकार के प्रयास करके स्वयं एक परिणाम पर पहुँच्ता है।

9.सीखना व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों है- सीखना व्यक्तिगत प्रक्रिया केसाथ-साथ सामाजिक प्रक्रिया भी है। योकम एवं सिम्पसन के अनुसार -सीखना सामाजिक है,क्योंकि किसी प्रकार के सामाजिक वातावरण के अभाव में व्यक्ति का सीखना असंभव है।

सीखने के नियम व सिद्धान्त (Laws and Theories of Learning)

सिखाने की प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है ?हम कैसे सीखते हैं ? कोई व्यक्ति गणित के प्रश्न को हल करना,गाना,खाना पकाना आदि कैसे सीखता है ?ऐसे कई प्रश्नों के उत्तर के लिये सीखने की प्रक्रिया का अध्ययन आवश्यक है |मनोवैज्ञानिकों ने इस दिशा में बहुत प्रयत्न किये हैं और परिणामस्वरूप सीखने या अधिगम सम्बन्धी कुछ सिद्धांतों की रचना की हैं जिनका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत है |

1. सीखने का सिद्धान्त:

ई. एल. थार्नडाइक के सिद्धान्त के अनुसार जब कोई प्राणी सीखता है तो उसके सामने एक विशिष्ट प्रकार की परिस्थिति होती है। यह परिस्थिति उसे किसी प्रकार की अनुक्रिया करने के लिये दबाव डालती है। थार्नडाइक ने अनुक्रिया की दिशा में दबावडालने वाली परिस्थिति को उद्दीपन(Stimulus) के रूप में तथा उद्दीपन के परिणाम को अनुक्रिया (Response) के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रकार एक उद्दीपन का किसी अनुक्रिया के समय संयोग ही उद्दीपन-अनुक्रिया संबंध (s-R Bond) के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार थार्नडाइक के अनुसार अधिगम की प्रक्रिया मनुष्य के मस्तिष्क में सम्पन्न होती है तथा यह प्रक्रिया विशिष्टपरिस्थितियों में मध्य स्थापित होने वाले संबंधों का परिणाम होती है।

थार्नडाइक का प्रयोग:

थार्नडाइक ने अपने सिद्धान्त की परीक्षा करने के लिये बिल्लियों पर प्रयोग किये। उसने अपने एक प्रयोग में एक भूखी बिल्ली को पिंजड़े में बन्द कर दिया। पिंजड़े का दरवाजा लीवर के दबने से खुलता था। पिंजड़े के बाहर भोजन रख दिया। बिल्ली के लिये भोजन उद्दीपन था। उद्दीपन (s) के कारण उसमें प्रतिक्रिया(R) आरंभ हुई। उसने अनेक प्रकार से बाहर आने का प्रयत्न किया। एक बार संयोग से उसका पंजा लीवर पर पड़ गया। फलस्वरूप वह दब गया और दरवाजा खुल गया। थार्नडाइक ने यह प्रयोग कई बार दोहराया। अन्त में एक समय ऐसा आया जब बिल्ली किसी प्रकार की भूल किये बिना लीवर को दबाकर पिजड़े का दरवाजा खोलने लगी। इस प्रकार उद्दीपन और प्रतिक्रिया में सम्बन्ध (S-R Bond) स्थापित हो गया। थार्नडाइक ने सम्बन्धवाद के सिद्धान्त में सीखने के क्षेत्र में प्रयास एवं त्रुटि (Trial and Error) के महत्व को विशेष महत्व दिया है। प्रयास एवं त्रुटि के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हम किसी कार्य को

करने में त्रुटि या भूल करते हैं| बार-बार प्रयास करके त्रुटियों की संख्या कम या समाप्त हो जाती है| यह प्रक्रिया प्रयास एवं त्रुटि द्वारा सीखना या अधिगम कहलाती है।

2.पैवलाव का पारंपरिक/शास्त्रीय अनुबंधन का सिद्धान्त (Pavlov's Classical Conditioning Theory)

अनुबंधन का अर्थ है अस्वाभाविक उत्तेजना के प्रति स्वाभाविक क्रिया का उत्पन्न होना। पारंपरिक/शास्त्रीय अनुबंधनसे तात्पर्य सीखने की उस प्रक्रिया से हैं जिसमें दो उद्दीपन (घटनाएँ) एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध होते हैं कि एक घटना का संयोग दूसरी घटना के होने की संभावना को दृढ़तापूर्वक पूर्वानुमानित करता है |उदाहरण के लिए एक बालक अपना बस्ता लिए बाजार के रास्ते विद्यालय जा रहा है। रास्ते में हलवाई की दूकान पड़ती है। दुकान पर सजी हुई मिठाइयों को देखकर बच्चेके मुँह से लार टपकने लगती है। धीरे-धीरे यह एक स्वाभाविक क्रिया बन जाती है। अत: जब अस्वाभाविक उत्तेजना के प्रति स्वाभाविक क्रिया होती है तो वह पारंपरिक/शास्त्रीयअनुबंधन सिद्धान्त कहलाता है। यह प्रक्रिया पावलाव द्वारा किये गये निम्नलिखित प्रयोग से स्पष्ट हो जाती है|

पैवलाव द्वारा किए गए प्रयोग में एक कुत्ते को भूखा रख कर उसे प्रयोग वाली मेज के साथ बांध दिया गया। इस कुत्ते की लार ग्रन्थियों का आपरेशन कर दिया गया ताकि उसकी लार की बूंदों को परखनली में एकत्रित करके लार की मात्रा मापी जा सके। प्रयोग में प्रारंभ में घंटी बजाने के तुरंत बाद कुत्ते को भोजन दिया गया। भोजन देखकर कुत्ते के मुंह में लार आना स्वाभाविक था। इस प्रयोग को कई बार दोहराया गया और एकत्रित लार की मात्रा का माप लिया जाता रहा। प्रयोग के आखिरी चरण में भोजन न देकर केवल घंटी बजाने की व्यवस्था की गई। इस अवस्था में भी कुत्ते के मुंह से लार टपकी। इस प्रयोग द्वारा यह देखने को मिला कि भोजन जैसे प्राकृतिक उददीपन (natural stimulus) के अभाव में भी घंटी बजने जैसे कृत्रिम उददीपन के प्रभाव से भी कुत्ते ने लार टपकाने जैसी स्वाभाविक अनुक्रिया (Natural Response)को व्यक्त किया। क्योंकि कुत्ते ने यह सीखा कि जब घंटी जब बजती है तब खाना मिलता है। पैवलाव ने इस प्रकार के सीखने को अनुबन्धन द्वारा सीखना (Learning by conditioning) कहा । इस प्रयोग मे भोजन अप्रतिबंधित उद्दीपन(Uncoditioned stimulus) था क्योंकि लार बनने की प्रतिक्रिया स्वत:थी और कुत्ते के सीखने पर निर्भर नहीं थी। इसलिए यह प्रतिक्रिया भी अप्रतिबंधित अनुक्रिया (Uncoditioned Response)थी।

जबकि घंटी की आवाज एक प्रतिबंधित उद्दीपन था क्योंकि लार उत्पादन की प्रतिक्रिया घंटी पर निर्भर न करते हुए उसके तुरंत बाद मिलने वाले भोजन के लिए थी। अत%यहां लार उत्पादन एक प्रतिबंधित अनुक्रिया के रूप में लिया गया।

3. स्किनर का सक्रिय अनुबंधन का सिद्धान्त (Skinner's Theory of operant conditioning or Behavioristic theory)

प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक बी.एफ. स्किनर ने सक्रिय अनुबंधन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। व्यवहारवाद के जनक वाटसन महोदय ने प्राणी के व्यवहार को समझने के लिये S-O-R सूत्र का प्रतिपादन किया। इसमें S (Stimulus)उद्दीपन, O (Organism) प्राणी तथा R (Response) अनुक्रिया या व्यवहार है। उनके अनुसार उद्दीपन के घटित होने पर प्राणी अनुक्रिया करता है। लेकिन इसके विपरीत स्किनर का मत है कि प्राणी उद्दीपन घटित होने की प्रत्याशा से पहले ही अनुक्रिया करने लगता है। इस प्रकार जब उसे उद्दीपन की प्राप्ति हो जाती है, तब यह अनुक्रिया पुष्ट होती है या कमजोर यह उद्दीपन की प्रकृति पर निर्भर करता है। अत: यहाँ सीखे गये व्यवहार का सूत्र S-R न होकर R-S हो जाता है।

स्किनर के इस सिद्धान्त को नैमित्तिक अनुबंधन (Instrumental conditioning) का सिद्धान्त भी कहते हैं, क्योंकि प्राणी इसमें किसी उद्दीपन (पुरस्कार या दण्ड) के निमित्त प्रतिक्रिया करता है तथा व्यवहार की पुनरावृत्ति होने पर व्यवहार अनुकूलित हो जाता हैजिसे प्राणी के द्वारा किया गया अधिगम या सीखना कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राणी पहले अपेक्षित अनुक्रिया करता है, तब उसे पुरस्कार प्रदान किया जाता है, पुरस्कार अनुक्रिया को दृढ़ करता है तथा पुनः उसी क्रिया को करने के लिये प्रेरित करता है।

स्किनर के अनुसार सीखना तभी होता है जब किसी प्रतिक्रिया का पुष्टिकरण होता है। अधिगम या सीखने में R (प्रतिक्रिया) ही मजबूत या दृढ़ होती है, न कि S-R बंधन।

स्किनर के अनुसार सक्रिय अनुबंधन से अभिप्राय एक ऐसी अधिगम प्रक्रिया से है जिसके द्वारा सक्रिय व्यवहार की सुनियोजित पुनर्बलन द्वारा पर्याप्त बल मिल जाने के कारण वांछित रूप में जल्दी -जल्दी पुनरावृत्ति होती रहती है और अधिगमकर्ता अंत मेंवांछित व्यवहार सीखने में समर्थ हो जाता है|

स्किनर का प्रयोगः

स्किनर ने एक पेटी में भूखे चूहे को रख दिया। पेटी के एक कोने में एक लीवर लगा था जिसे उसी कोने की दीवार के ऊपरी भाग में रखे एक ऐसे पात्र से जोड़ दिया गया था जिसमें भोजन के छोटे-छोटे टुकड़े भरे हुये थे। लीवर के नीचे एक तश्तरी या प्याली रखी गई थी। लीवर को दबा देने पर भोजन पात्र से एक टुकड़ा तश्तरी में गिर सकता था। चूँकि पेटी के भीतर भूखा चूहा कोई भी अनुक्रिया करने के लिए स्वतंत्र था वह इधर-उधर घूमता रहा, उछल कूद करता रहा। इसी क्रम में चूहे ने लीवर को दबा दिया जिसके परिणामस्वरुप उसके सामने प्याली में भोजन का टुकड़ा गिर गया। वह भोजन चूहे ने खा लिया। इस प्रयोग को पुन किया गया। यह पाया गया कि चूहे ने लीवर को फिर दबा दिया और उसे भोजन का टुकड़ा प्राप्त हो गया। यह क्रम चलता रहा और चूहा शीघ्रता से लीवर दबा-दबाकर भोजन प्राप्त करना

सीख गया। स्किनर के इस प्रयोग में भोजन चूहे की क्रिया के लिये पुर्नबलन का कार्य करता है अर्थात वह लीवर को दबाने की क्रिया को बल प्रदान करता है।

किसी भी प्राणी द्वारा की गयी किसी अनुक्रिया अथवा व्यवहार का हम दो प्रकार से पुनर्बलन कर सकते है कुछ देकर,जिसे पाना उसे अच्छा लगे अथवा उसके पास से कुछ हटाकर जिसका उसे अच्छा लगे |पहले प्रकार के पुनर्बलन को धनात्मक पुनर्बलन (positive reinforcement)कहते है जैसे भोजन,पानी,प्रशंसा,धन,मान-सम्मान आदि| दूसरे प्रकार का पुनर्बलन ऋणात्मक पुनर्बलन (Negative reinforcement)कहलाता है| जैसे -बिजली का आघात,अपमान,डरावनी आवाज आदि से बचना |

4. गेस्टाल्ट का अन्तर्दृष्टिसिद्धान्त (Gestalt Theory of Insight)

अन्तर्दृष्टि या सूझ के सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक गेस्टाल्टवादी हैं। उनके मतानुसार व्यक्ति या प्राणी सूझ(Insight) द्वारा सीखते हैं। सबसे पहले प्राणी अपने आस-पास की परिस्थिति के विभिन्न अंगो से पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करता है और सम्पूर्ण परिस्थिति को समझने का प्रयास करता है, तत्पश्चात् उसके अनुसार अपनी प्रतिक्रिया करता है। अन्य शब्दों में 'सूझ द्वारा सीखने का तात्पर्य परिस्थिति को पूर्णतया समझकर सीखना है। यह अकस्मात् होती है तथा परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण नये ढंग से होता है। जैसे किसी फूल को पूर्ण रूप में देखकर तथा समझकर ही बाद में उसके भागों का अध्ययन करना अधिक सुगम होता है|

गेस्टालटवादी अधिगम सीखने को केवल प्रयास करते हुए भूल सुधारने अथवा किसी उद्दीपन के प्रति सहज स्वाभाविक अनुक्रिया व्यक्त करने जैसा कार्य नही मानते। वे उसे एक उद्देश्यपूर्ण अन्वेषणात्मक और रचनात्मक प्रक्रिया मानकर चलते है। उनके अनुसार सीखने वाला जो कुछ कर रहा होता है। उसका समग्र रूप में प्रत्यक्षीकरण करता है तथा उसमें निहित संयोगो अथवा संयोजनों का ठीक प्रकार विश्लेषण करता है। इस प्रत्यक्षीकरण और विश्लेषण के पश्चात वह बहुत ही समझदारी से कोई अनुक्रिया करता है। गेस्टाल्टवादी इसी प्रक्रिया के लिए अन्त: दृष्टि का प्रयोग करते है।

कोहलर का प्रयोगः

सूझ द्वारा सीखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये कोहलर (Kohler) ने एक भूखे चिंपांजी को पिंजडे में बन्द दिया। पिंजडे में दो सन्दूक (बॉक्स) रख दिये। पिंजड़े की छत पर कुछ केलों को इतनी ऊँचाई पर टांग दिया कि उन्हें दोनों बाक्स की एक के ऊपर दूसरे को रखकर ही प्राप्त किया जा सकता था। चिंपांजी ने केले प्राप्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये। उसने केले प्राप्त करने के लिये पहले एक बक्से को उठाकर रखा और उस पर चढ़कर केले प्राप्त करने में असफल होने पर दूसरे बक्से को उठाकर पहले वाले बक्से के ऊपर रखा। इस प्रकार दोनों बक्सों को एक के ऊपर एक रखने से बक्से की ऊँचाई इतनी हो गई कि चिंपांजी ऊपर चढ़कर केले प्राप्त करने में सफल हो गया।

चिंपांजी के समान मनुष्य भी सूझ के आधार पर सीखते हैं। प्रत्येक कार्य या क्रिया के सीखने में हमें सूझ का प्रयोग करना पड़ता है। विभिन्न समस्याओं का हल भी सूझ के माध्यम से होता है। प्रायः यह देखा गया है कि किसी ऊँचे स्थान पर रखी मिठाई को बालक चिंपांजी द्वारा अपनाई गई विधि द्वारा प्राप्त करते हैं। काफ्का महोदय के अनुसार सूझमें व्यक्ति चिन्तन, तर्क तथा कल्पनाशक्ति से काम लेता है। जिस व्यक्ति में जितनी कल्पनाशक्ति होगी उतनी ही उसमें सूझ होगी।

5.प्रबलन का सिद्धान्त (Reinforcement Theory)

प्रबलन सिद्धान्त का प्रतिपादन सी.एल.हल (C.L Hull) नामक अमेरिकी मनोवैज्ञानिक ने 1915 में अपनी पुस्तक में किया था। उनका यह सिद्धान्त थार्नडाईक तथा पावलव के सिद्धान्तों पर आधारित था। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य या पशु उसी कार्य को सीखता है जिस कार्य के करने से किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। हल (Hull) ने आवश्यकता की कमी शब्द का प्रयोग आवश्यकता की पूर्ति के स्थान पर किया है। हल का कथन है -

''सीखना आवश्यकता की पूर्ति की प्रक्रिया द्वारा होता है।' हल का सिद्धान्त चालक न्यूनता का सिद्धान्त (Drive Reduction Theory) है। हल के अनुसार जब किसी जीवधारी की कोई आवश्यकता पूरी नहीं होती तब उसमें असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट होता है। अपने प्रयोग द्वारा हल यह स्पष्ट करते है कि बिल्ली भोजन की आवश्यकता पूर्ण न होने पर तनाव का अनुभव करती है और उसके साथ ही भूख का चालक उसे भोजन प्राप्त करने के लिए क्रियाशील बना देता है कुछ समय के पश्चात चेष्टा करने पर वह भोजन प्राप्त कर लेती है और उसकी भूख की आवश्यकता संतुष्ट हो जाती है। आवश्यकता की पूर्ति होते ही तनाव समाप्त हो जाता है।

6. बैन्डयूरा का सामाजिक अधिगम सिद्धांत(Bandura's Social Learning Theory /Observational Learning):

बैन्डयूरा के सामाजिक अधिगम सिद्धांत को व्यवहार से संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक परिपेक्ष्य की ओर बढ़ती कडी के रूप में देखा जाता है। इसे अवलोकनात्मक अधिगम की संज्ञा भी दी जाती है। क्योंकि यहां व्यक्तिदूसरे के व्यवहार को देखकर सीखता है। जैसे - पहली बार मैट्रो रेल में यात्रा करने वाला व्यक्ति दूसरे को देखकर काउंटर से टोकन या पास खरीदना एवं प्रवेश एवं निकासी के लिए मशीन पर उसका प्रयोग सीखता है। यह एक सामाजिक अधिगम है जो किसी व्यक्तिके वातावरण, संज्ञान एवं समाकलन पर निर्भर करता है। इसमें किसी पुर्नबलन या उद्दीपन की आवश्यकता नही होती है।अपितु बच्चे अपने परिवेश में उपस्थित किसी सामाजिक मॉडल , जैसे- माता-पिता, भाई-बहन,दोस्त, अध्यापक,मीडिया, हस्तियों आदि के व्यवहार या गतिविधियों को देखकर वांछनीय तथा अवांछनीय व्यवहार सीखते है। संस्कृति से संबंधित रीति रीवाजों एवं परम्पराओं की जटिजलताओं को सीखने में इसका विशेष महत्व है। बैन्डयूरा पारस्परिक नियतवाद में विश्वास रखते थे। जिसमें पर्यावारण और व्यक्ति दोनो एक दूसरे को प्रभावित करते है। बैन्डयूरा के सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत के अनुसार अवलोकनात्मक अधिगम में चार निम्नलिखित चरण होते है।

1 ध्यान (Attentation) :- पर्यवेक्षक तब तक नही सीखता है जब तक कि वह अपने आस पास की गतिविधियों, वस्तुओं पर ध्यान नही देता है। हालांकि यह प्रक्रिया मॉडल की विशेषताओं , पर्यवेक्षक की पसंद- नापसंद, उम्मीदों एवं भावनात्मक उत्तेजनाओं पर भी निर्भर करती है।

2 स्मरण / धारण (Retentation) :- अवलोकन मात्र से पर्यवेक्षक कुछ नही सीखता है। अत: मॉडल के व्यवहार को स्मरण करना तथा प्राप्त जानकारी/ ज्ञान को सरल संकेतों में मानस पटल पर संग्रह करना भी अतिआवश्यक है।

3 प्रस्तुति/ प्रर्दशन (Production):- तीसरे चरण में स्मृतिके आधार पर गतिविधि व्यवहार को शारीरिक अथवा मानसिक स्तर पर प्रस्तुत करना शामिल होता है। यहां यह आवश्यक नही है कि पर्यवेक्षक/ अधिगमकर्ता में गतिविधि को क्रियान्वित करने के सभी कौशल मौजूद हों परन्तु अभ्यास द्वारा यह कुशलता अर्जित की जा सकती है।

4 अभिप्रेरणा (Motivation)- किसी व्यवहार की पुनरावृत्ति या अभ्यास प्रर्दशन के उपरांत दी गई प्रेरणा से प्रभावित होती है। यह प्रेरणा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकती है। जैसे- प्रर्दशन के पश्चात प्रशंसा या ईनाम व्यवहार को सुदृढ करने मे बाह्य अभिप्रेरक का कार्य करता है। साथ ही यदि मॉडल को किसी विशिष्ट कार्य/ व्यवहार के लिए पुरस्कृत या सम्मानित किया जाता है। तो यह भी उस व्यवहार को सुदृढ़ करता है। इसे अप्रत्यक्ष अभिप्रेरक की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक अधिगम सिद्धांत के संदर्भ में बैन्डयूरा का बोबो गुडिया (Bobo Doll) का प्रयोग बहुत चर्चित है।

प्रयोग :-

इस प्रयोग मे बैन्डयूरा ने बच्चों को दो समूह में बांट दिया । उनमें से एक समूह को एक हिंसात्मक चलचित्र दिखाया गया जिसमें मॉडल,अभिनेता बोबो गुडिया को बहुत मारता पीटता है एवं गाली देता है यह समूह प्रयोगात्मक समूह कहलाया । दूसरे समूह को जो चलचित्र दिखाया गया उसमें मॉडल, अभिनेता शांतचित्त था तथा उसने कुछ भी हिंसात्मक नही किया। यह नियोजित समूह था ।तत्पश्चात दोनो बच्चों के समूह को एक ऐसे कमरे मे ले जाया गया जहां कई खिलौनों के साथ बोबो गुडिया भी रखी हुईथीं। पहले समूह के बच्चों ने गुडिया को मॉडल की नकल करते हुए ठीक उसी तरह से मारा पीटा जबकि दूसरे समूह ने ऐसा कुछ नही किया। इससेबैन्डयूरा द्वारा किए गए अवलोकनात्मक अधिगम सिद्धांत की पुष्टि होती है। तथा यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे अपने परिवेश में एक सक्रिय सहभागी के रूप में कार्य करते हुए नए व्यवहारों एवं मीडीया के धनात्मक एवं ऋणात्मक पक्ष पर भी प्रकाश डालने की कोशिश की है।

7 सहायक/ सहकारी अधिगम सिद्धांत(Theory of Co-operative Learning)- शिक्षा के क्षेत्र में रचनावाद के परिपेक्ष्य के फलस्वरूप समाज की रूचि / रूझान सहायक अधिगम सिद्धांत मे बढी है । सहायक अधिगम एक ऐसा शैक्षणिक दृष्टिकोंण है जिसमें कक्षा की अधिगम गतिविधियों को शैक्षिक एवं सामाजिक अनुभवों के रूप में संगठित करने का प्रयास किया जाता है। इसमें बच्चोंको अलग अलग समूहों मे बांटकर कार्य आवंटन किया जाता है। इससे से वे एक दूसरे के साथ परस्पर कार्य करते हुए सामाजिक अंतर क्रिया के मूल्यों एवं कौशल को सीखते है। इसके अलावा वे एक दूसरे की मदद से मानसिक / संज्ञानात्मक क्रियांए जैसे तर्क, सूझ-बूझ समालोचना आदि का विकास करने में सफल होते है इसमें बच्चे स्कैफोल्डिंग (मचान) के द्वारा उन कार्यों को स्वंय करने में सक्षम हो जाते है। जिन्हे वे पहले मदद के बिना नही कर पाते थे। कक्षा मे सहायक अधिगम के सफल संयोजन के लिए पाँच निम्नलिखित अवयवों की आवश्यकता होती है :

1 सकारात्मक पारस्परिक निर्भरता (positive Independence)

2 व्यक्तिगत एवं सामूहिक उत्तरदायित्व (Individual and group accountability)

3 आमने सामने या प्रोत्साहक बातचीत (face to face or Promotive Interaction)

4 पारस्परिक कौशल (Interpersonal skills)

5 समूह प्रसंस्करण (Group processing)

शिक्षण व्यवस्था को उपर्युक्त अधिगम सिद्धांतो पर आधारित करके एवं उनके समुचित समाकलन(Integration) से शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहजता होती है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए:

2.सीखने का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

3. थानडाईक के सीखने के सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

4. स्किनर के क्रिया प्रसूत अधिगम सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

1.4 शिक्षण, प्रशिक्षण एवं अनुदेशन

शिक्षण

शिक्षा के क्षेत्र में 'शिक्षण'शब्द का सामान्य अर्थ विद्यालयी सीमाओं में दी जानेवाली शिक्षा से जुड़ा है। शिक्षा तभी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है जब शिक्षक एक प्रक्रिया द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम को पढ़ाता है,वह प्रक्रिया शिक्षण कहलाती है। शिक्षण का अर्थ सिखाना है। सिखाने में विधियाँ तथा पाठ्य-सामग्री वांछित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयुक्त होती हैं। अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि शिक्षण में केवल सीखना ही नहीं सिखाना भी निहित है। शिक्षण की प्रक्रिया शिक्षण अधिगम (Teaching Learning) द्वारा पूरी होती है। शिक्षण के सिद्धांत में एन.एल.गेज के अनुसार तीनप्रश्न निहित है-शिक्षक का व्यवहार,छात्रों का व्यवहार तथा शिक्षण का प्रभाव|

सीखने के सिद्धान्तों (Learning Theories) पर तो मनोवैज्ञानिकों ने बहुतशोध किया है परन्तु शिक्षण के क्षेत्र में इतना शोध नहीं हो पाया है। केवल सीखने की सीमा तक ही शिक्षण का लाभ हो रहा है।

शिक्षण की प्रकृति (Nature of Teaching)

शिक्षण की प्रक्रिया में निम्नलिखित प्रभाव/अवयव या घटक होते हैं-

1. **<u>शिक्षण का अर्थ सिखानाहै</u>(Teching is Causing to learn):**

शिक्षण का मूल सूत्र हैः बालक को सीखने के लिये तैयार करना। उसमें यह उत्प्रेरणा उत्पन्न कर देना जो सीखने के लिए उसे उत्साहित कर दे,उसमें ललक भर दे। अध्यापक बालक की इसी क्रिया में सहायता करता है तथा विषम और जटिल अवसरों पर अपने पथ-प्रदर्शन द्वारा उसको उचित मार्ग पर ले जाता है। शिक्षण के इस सिद्धान्त को लगभग सभी शिक्षाविदों का समर्थन प्राप्त है।

2. <u>शिक्षण का अर्थ बालक के संवेगों को प्रशिक्षित करना है</u> (Teaching means training of emotions of the child):

यदि अध्यापक चाहता है कि बालक ठीक-ठीक कार्य करें तो उनके संवेगों को सकारात्मक रखना होगा। कार्य व्यक्ति की भावनाओं पर निर्भर करता है। अतः ठीक-ठीक कार्य करने की इच्छा के लिये हमें बालकों में प्रेरणादायी भावनायें उत्पन्न करनी चाहिए। प्रेरणादायी भावनाएँ अच्छे कार्यों में रुचि रखने से उत्पन्न होती है और अच्छे कार्यों में रुचि शिक्षण द्वारा उत्पन्न होती है।

यदि हम बालकों के स्थिर संवेगात्मक जीवन के विकास को दृष्टिगत नहीं रखेंगे तो हमारा शिक्षण एकांगी तथा विकृत हो जायेगा। शिक्षण द्वारा हमारे संवेगों का उचित प्रशिक्षण होता है,स्थिर संवेगात्मक जीवन का विकास होता है। यह विकास शिक्षक की सहानुभूति,प्रेम,उचित कार्य,वैयक्तिक सम्पर्क तथा उचित पथ-पदर्शन द्वारा सुगमता से संभव होता है। यद्यपि बच्चों को स्नेह पाने का मुख्य स्रोत उनका घर होता है फिर भी पाठशाला को इस ओर ध्यान देना चाहिए। मैत्रीपूर्ण वातावरण से बालक में सुरक्षा की भावना का विकास होता है। तब वह सभी कार्यों में उल्लास के साथ भाग लेता है।

3. <u>शिक्षण का अर्थ अभिप्रेरणा प्राप्त करना है</u>(The meaning of teaching is to secure motivation)

कोई कार्य तभी सफल होता है जब कर्ता के भीतर उस कार्य के लिए उत्साह हो। इसी प्रकार शिक्षण के क्षेत्र में भी शिक्षक को अभिप्रेरणा (Motivation)प्राप्त करना नितान्त आवश्यक होता है। सीखने के प्रति बालक में रुचि उत्पन्न करना ही अभिप्रेरणा है। शिक्षक को बालक की प्रमुख रुचियों तथा रुझानों का पता लगा लेना चाहिए और उसके अनुसार बालक को उचित दिशा-निर्देश देना चाहिए।

4. <u>शिक्षण का अर्थ बालक को क्रियाशील रहने का अवसर देना</u> है (The meaning of Teaching is to provide opportunities for activites)

बालक के अन्दर क्रियाशील रहने की जन्मजात प्रवृत्ति होती है जो विभिन्न मूल-प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होती है। शिक्षक को चाहिए कि बालकों की इस प्रवृत्ति को ऐसी दिशा प्रदान करे जिससे उसके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास हो सके। बालकों के अध्ययन और सीखने की विधि तथा चिन्तन करने के उचित ढंग और सामग्री के मूल्यांकन करने की उचित पद्धतियों में अध्यापक को अपने बालकों को सतर्क होकर पथ-प्रदर्शन करना चाहिए अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानिकारक प्रभावों की संभावना बढ़ जाती है।

5. <u>शिक्षण का अर्थ बालक को अपने वातावरण के अनुकूल बनने में सहायता देना है</u> (Teaching is helping the child to adjust himself to his environment)

यह सभी जानते है कि अपने प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण के प्रति किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करना बालक का स्वभाव है। प्रतिक्रियायें अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की होती हैं। इन प्रतिक्रियाओं में सुधार शिक्षक अपने शिक्षण द्वारा करता है। जिससे बालक प्रगतिशील तथा उपयुक्त प्रतिक्रियाएँ करने की योग्यता प्राप्त करता है। यह योग्यता उसे अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायता पहुँचाती है। दूसरेशब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षण द्वारा बालकों को इस संसार में जीने की कला का ज्ञान प्राप्त होता है।

6. <u>शिक्षण का अर्थ सम्बन्ध स्थापित करना है</u>(Teaching means establishing relationship)

शिक्षा में तीन केन्द्र बिन्दु होते हैं:शिक्षक, बालक और विषय। इन तीनों के मध्य सम्बन्ध की स्थापना ही 'अध्ययन' है। शिक्षक को यह समझ होनी चाहिए कि वह अपनी भावनाओं और बालकों के प्रति अपने व्यवहार तथा मनोवृत्ति को पूर्ण रुप से जान सके। उसे अपने विषय में सच्चे अर्थों में विशेषज्ञता प्राप्त होनी चाहिए साथ ही विषय और विद्यार्थी के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की कला होनी चाहिए।

7. <u>शिक्षण का अर्थ ज्ञान देना है</u>(Teaching means to give knowledge)

शिक्षण द्वारा बालकों को ज्ञान प्रदान किया जाता है। उन्हे अज्ञात वस्तुओं व विचारों से अवगत कराया जाता है। जो शिक्षक कहानी कहने की कला में अधिक प्रवीण होते हैं,विषय की प्रस्तुति की विधि जानते हैं तथा बालकों की मनोवृत्तियों को समझते हैं उन्हे इस कार्य में सहजता होती है। बच्चे उस ज्ञान को शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं जो सरल व रोचक ढंग से उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

8. <u>शिक्षण तैयारी का साधन है</u>(Teaching is a means of preparation)

शिक्षण द्वारा बच्चों का शारीरिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा संवेगात्मक विकास किया जाता है। इस विकास से उनमें ऐसी क्षमता आ जाती है जिससे वे अपने भावी जीवन को सुखी बना सकते हैं।

शिक्षण द्वारा बालक में सृजनशीलता तथा व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है जिससे उसमें राष्ट्र और समाज के दायित्वों को पूरा करने की तत्परता आती है। शिक्षण एक ऐसा यज्ञ है जिसके उत्तम ढंग से पूरा होने में समाज और राष्ट्र का हित होता है।

शिक्षण के सिद्धान्त (Principles of Teaching)

शिक्षण एक कला है। अतः हर कोई एक अच्छा और सफल शिक्षक नहीं हो सकता। शिक्षण कला के भी कुछ सिद्धान्त हैं। अतः सभी शिक्षकों को इन सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। शिक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है-

1. क्रियाशीलता का सिद्धान्त (The principle of activity)

बच्चे स्वभावतः प्रशिक्षण की किसी न किसी क्रिया में सक्रिय रहते हैं अतः वे क्रिया द्वारा ही सुगमतापूर्वक तथा शीघ्रता से सीखते हैं।इसी आधार पर शिक्षा में क्रियाशीलता का प्रतिपादन किया गया है। इस सिद्धान्त के ही अनुरूप अनेक शिक्षण-विधियों जैसे- प्रोजेक्ट, माण्टेसरी, किण्डरगार्टन आदि का प्रचलन हुआ है। रायबर्न ने इसे अधिक महत्वपूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक मानाहै। फ्रोबेल भी इस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते हैं।

2. रुचि का सिद्धान्त (Principle of interest)

शिक्षण सिद्धान्तों में यह सिद्धान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षण में ध्यान एवं रुचि दोनों ही आवश्यक हैं। कार्य में रुचि होने पर बालक बिना किसी अतिरिक्त श्रम के कार्य को पूरा कर लेते हैं। शिक्षण को रुचिकर बनाने के लिये जरूरी है कि पाठ्य विषय रोचक हो।

3. प्रेरणा का सिद्धान्त (Principle of Motivation)

इस सिद्धान्त में बालकों को कार्य के प्रति प्रेरित करना निहित है। सीखने के लिये प्रेरित करने में जरूरी है कि शिक्षक बालकों की जन्मजात शक्तियों एवं प्रवृत्तियों का सहारा लेकर कक्षा में ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिससे बालकों के मन में नई-नई बातों को सीखने की जिज्ञासा उत्पन्न हो। जिज्ञासा होने पर बालकों की पाठ्यविषय में रुचि पैदा होती है। आजकल सभी शिक्षाशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक सफल शिक्षण के लिये प्रेरणा की उपयोगिता पर बल देते है।

4. जीवन से सम्बन्ध जोड़ने का सिद्धान्त (Principle of linking with life)

इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि बालकों को जो भी शिक्षा दी जाय वह उनके जीवन से सम्बन्धित हो। वास्तविक जीवन से सम्बन्धित होने के कारण वे विषय को अधिक सुगमता एवं शीघ्रता से ग्रहण कर लेते हैं। शिक्षाविदों के अनुसार ''जीवन एक निरन्तर अनुभव की प्रक्रिया है।जो कुछ हम करते हैंवह अतीत एवं भविष्य से जुड़ा होता है।''

5. चयन का सिद्धान्त (Principle of selection)

इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षक को अपने पाठ का उद्देश्य चुन कर निश्चित कर लेना चाहिए। इससे शिक्षण-कार्य सुगम रोचक एवं प्रभावशाली हो जाता है। इस सिद्धान्त के बारे में रायबर्न ने लिखा है- ''चयन का सिद्धान्त अति महत्वपूर्ण है और शिक्षक के अच्छे चयन की योग्यता पर उसके कार्य की सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है''किसी शिक्षा में सम्पूर्ण विषय नहीं समझाया जा सकता है।

6. सोद्देश्यता का सिद्धान्त (Principle of Purposiveness)

इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों शिक्षण के उद्देश्यों से अवगत होने चाहिए। रायबर्न के अनुसास- ''हमें सभी पाठों के उद्देश्यों का ज्ञान होना चाहिए। पाठ का प्रत्येक भाग और उसके अंतर्गत अध्यापक और छात्र जो कुछ कार्य करते हैंउस उद्देश्य पर निर्भर करताहै।

7. नियोजन का सिद्धान्त (Principle of planning)

हम यह जानते हैं कि प्रत्येक कार्य की सफलता उसकी योजना पर निर्भर रहती है। अतः हमे शिक्षण कार्य की सफलता के लिये पाठ्य विषय का पहले से ही नियोजन कर लेना चाहिए। शिक्षक को पढ़ाने से पूर्व यह निश्चित तय कर लेना चाहिए कि वह पाठ्यवस्तु किस क्रम से, किस विधि व किस पाठ्य-सामग्री की सहायता से छात्रों के समक्ष प्रस्तुत करेगा।

8. वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त (Principle of Indivisual Differences)

सभी विद्यार्थी एक जैसे नहीं होते हैं। उनमें ज्ञान, कौशल और योग्यता आदि में पर्याप्त वैयक्तिक भिन्नता पायी जाती है। वे न केवल शक्ल-सूरत में भिन्न होते हैं बल्कि उनकी रुचि, स्वभाव, बुद्धि व योग्यता भी समान नहीं होती। अत: शिक्षक को विद्यार्थी की भिन्नता को ध्यान में रखकर शिक्षण कार्य आयोजित करना चाहिए।

9. विभाजन का सिद्धान्त (Principle of Division)

इसके अनुसार पाठ्य सामग्री को क्रम से प्रस्तुत करने के लिये उसे सोपानों (इकाइयों) तथा कुछ लघु पदों (Small steps) में बाँट लेना चाहिए। विभाजन के उपरान्त इकाईयों को इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए कि उनका क्रम ऐसा हो कि शिक्षक एक सोपान से दूसरे सोपान में स्वाभाविक ढंग से आगे पहुँच सके।

10. प्रजातांत्रिक व्यवहार का सिद्धान्त (Principle of Democratic Behaviour)

इस का आशय शिक्षकों को विद्यार्थियों के प्रति प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण अपनाने से है। कक्षा में शिक्षक का एक तानाशाह के रूप में नहीं वरन एक मित्र, सहयोगी एवं सलाहकार के रूप में कार्य करना चाहिए । शिक्षण को प्रभावशाली बनाने के लिये यह जरूरी है कि शिक्षक का व्यवहार प्रजातांत्रिक हो ताकि वह अपने विचारों व कठिनाइयों को स्वतंत्रता पूर्वक दूर करे। बालक शिक्षक को अपना हितैषी मानते हैं और कठिन से कठिन बाते सीखने का प्रयास करते हैं।

11. आवृत्ति का सिद्धान्त (Principle of Revision)

शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षण कार्य में आए हुए मुख्यमुख्य अंशों को दोहरायें और उन्हे उदाहरण देकर बालकों को समझायें। अभ्यास का अवसर मिलने से ज्ञान स्थायी हो जाता है और कठिन अंश भी आसान हो जाते हैं।

शिक्षण तथा प्रशिक्षण (Teaching and Training)

शिक्षण की क्रियाएँ कई रुपों में आयोजित एवं क्रियान्वित होती हैं। थॉमस एफ. ग्रीन ने अपनी पुस्तक 'दी एक्टीविटीज ऑफ टीचिंगमें शिक्षण के अनेक स्वरूपों (Modlities) का उल्लेख करते हुये बताया है कि कतिपय शिक्षण- कार्य अनुकूलन या अनुबंधन(Conditioning) के रूप में, कुछ प्रशिक्षण (Training) के रूप में, कुछ अनुदेशन (Instruction) के रूप में तथा कुछ मतारोपण (Indoctrination) के रूप में सम्पन्न होते हैं। ये सभी प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित होते हुये भी अपनेअपने स्वभाव में भिन्न प्रकार के हैं।

इनमे से अनुकूलन या अनुबन्धन (Conditioning) एवं प्रशिक्षण(Training) का प्रयोजन व्यवहार या आचरण में परिवर्तन लाना है। इन्हें 'टीचिग टु'की श्रेणी में रखा जाता है। यहाँ'टीचिग टु'से तात्पर्य ऐसी क्रियाओं से है जिनका परिणाम कुछ नये ढंग से कार्य करने या आचरण करने में देखा जा सकता है। इसके विपरित अनुदेशन (Instruction)एवं मतारोपण (Indoctrination)का लक्ष्य आस्था, विश्वास एवं ज्ञान उत्पन्न करना है। इन्हें 'टीचिग दैट'की श्रेणी में रखा जाता है। 'टीचिग दैट'का अभिप्राय ऐसी क्रियाओं से है जिनके माध्यम से शिक्षार्थी में नवीन सूचनाएँ, विचार या ज्ञान संप्रेषित किये जाते हैं।

प्रशिक्षण में बाह्य स्थिति को नियंत्रित कर अभ्यास एवं अनुशासन द्वारा नया व्यवहार सिखाया जाता है। शिक्षार्थी को बार-बार किसी कार्य की आवृत्ति या दोहराने का मौका देकर, उसके द्वारा व्यक्त वांछित व्यवहार को तुरन्त प्रतिपुष्ट कर तथा कठोर नियमन के जरिये एक विशेष प्रकार की व्यवहार - शैली या आचरण पर अधिकार प्राप्त कराया जाता है।

ध्यान देने की बात यह है कि प्रशिक्षण की इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी को अपने विवेक के उपयोग का कोई अवसर नहीं मिल पाता है। वह अपने प्रशिक्षक से न तो कोई तर्क-वितर्क कर सकताहै और न किसी प्रकार का शंका-समाधान पाने की आजादी रखता है। उसे प्रशिक्षण हेतु एक पूर्व नियत साँचे में ढल जाने की क्षमता विकसित करनी पड़ती है। इस दृष्टि से ऐसे व्यक्ति को ही सफल प्रशिक्षणार्थी कहा जायेगा जो सरलतापूर्वक अपेक्षित आचरण का अभ्यास करने लग जाता है।

शिक्षण तथा अनुदेशन (Teaching and Instructioon)

अनुदेशन की क्रिया शिक्षण से मिलती-जुलती है। इसमें शिक्षक तथा शिक्षार्थी के बीच संज्ञानात्मक (Cognitive)दृष्टि से विचारों के स्तर पर विवेकपूर्ण आदान-प्रदान या अन्तर्विनिमय होता है। इस प्रक्रिया में भाषा एवं तर्क दोनों का ही उपयोगकिया है। शिक्षार्थी को प्रश्न पूछने तथा शंका समाधान प्राप्त करने की पूरी स्वतंत्रता रहती है और शिक्षक इस बात की पूरी कोशिश करता है कि उसके मस्तिष्क में उपजे विचार या भाव शिक्षार्थी तक भलीभाँति पहुँच जायें।

शिक्षण तथा अनुदेशन में अन्तर करने के लिये यह देखना होगा कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच उपलब्ध वैचारिक आदान प्रदान किस सीमा तक दोनों पक्षों की तार्किक एवं विवेचनात्मक क्षमता पर आधारित है। इस प्रक्रिया में जब विवेक एवं तर्क का अधिक से अधिक उपयोग दिखाई पड़ता है तो इसे वस्तुतः 'शिक्षण'कहा जाता है। शिक्षण में विवेक या तर्क का उपयोग बराबर होता रहता है जबकि अनुदेशन के अन्तर्गत मात्र आंशिक रूप में।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए:

5. शिक्षण और प्रशिक्षण में अंतर स्पष्ट कीजिए।
6. शिक्षण के सिद्धांत स्पष्ट कीजिए।
7. अनुदेशन क्या है ?

1.5 खोज सूचना, आगमन व निगमन, अनुभव, अन्वेषण और संवाद:

वर्तमान में मानवीय ज्ञान के मुख्यतः दो पहलू हैं तथ्य व सिद्धान्त। समय के साथ उपलब्ध नये तथ्यों, नई संकल्पनाओं (Concepts) और कार्य करने के नये तरीकों से ज्ञान की उपलब्धि में बृद्धि हुई है। इसमें हमें किसी स्थिति विशेष को समझने, उसके बारे में तर्क-वितर्क व नियंत्रण करने की क्षमता विकसित होती है। जिन सूत्रों से हमें ज्ञान प्राप्त होता है उनमें से कुछ तो विश्वसनीय होते है और कुछ अतिविश्वसनीय। अतिविश्वसनीय सूत्रों के ज्ञान का आधार-कल्पना, विश्वास व बिना जांचे सामान्यीकरण होते हैं। ऐसे ज्ञान को आस्था, परंपरा या प्राधिकारी(Authority) के बताने पर मान्यता दे दी जाती है और उनकी वैधता की परख के लिये कोई प्रयत्न नहीं किये जाते।विश्वसनीय ज्ञान सामान्यीकरण वस्तुनिष्ठ परख के बाद ही स्वीकार किया जाता है।

ज्ञान का अर्जन और विस्तार कोई स्वचालित प्रक्रिया नहीं है बल्कि इसके लिये प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा नियोजित सतत प्रयासों की आवश्यकता पड़ती है। यह याद रखना चाहिए कि आज विद्यमान ज्ञान का स्तर मनुष्य द्वारा सदियों से अपनाई गई अनेक विधियों से प्राप्त उपलब्धियों का परिणाम है।

खोज सूचना (अन्वेषण)

खोज का सामान्य शाब्दिक अर्थ हैकिसी भी वस्तु या स्थिति की भली-भाँति बारीकी से जाँच-पड़ताल करना व जानना।

इसका बुनियादी आधार मनुष्य की जिज्ञासु प्रवृत्ति को माना जाता है। यह मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने निरन्तर जानने की इच्छा रखता है। इसी के परिणामस्वरूप मनुष्य नये ज्ञान व अनुभव प्राप्त करता रहता है। दूसरेशब्दों में कहा जा सकता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति का परिणाम है और अन्वेषण या खोज इसी ज्ञान और अनुभव को पाने अथवा स्वयं सीखने की कोशिश है। अपने आप सीखने की इस कोशिश में प्रेरणा अपनी अथवा किसी दूसरे की हो सकती है या कोई दूसरा इसमें सहायक तो बन सकता है पर सीखना स्वयं होगा।

कहा जा सकता है कि खोज अन्वेषक के द्वारा ही किसी अनुभूत समस्या के समाधान ढूढ़ने का साधन है जिसकी खोज उसके लिये एक पुरस्कार रूपी उद्दीपक का कार्य करती है। इसका आधार बालक की निरन्तर जानते रहने की प्रवृत्ति है। भारतीय दार्शनिक परपंरा में उपनिषदों के उन संवादों में इस प्रवृत्ति को उभारने के स्पष्ट संकेत है जिनमें गुरु द्वारा उत्तर देने अथवा जिज्ञासा शान्त करने की अपेक्षा शिष्यों को उलझा दिया जाता है तथा स्वयं द्वारा उत्तर खोजने या आत्मानुभूति की प्रेरणा दी जाती है।प्रश्नों का बने रहना ही इस पद्धति की सफलता है जिससे अन्वेषक के चिन्तन तथा अनुभवों का सतत विकास होता रहे।

अन्वेषण पर आधारित शिक्षण के विभिन्न अवयव:

इसका पहला अवयव अध्यापक द्वारा छात्रों को समस्या से भलीभाँति परिचित कराना है। अध्यापक का प्रयास रहता है कि बच्चे समस्यात्मक तथा विस्मयकारी परिस्थितियों से भलीभाँति परिचित हो जायें और उसके समाधान को ढूढ़ने का प्रयास शुरू कर दें। अतः इसका पहला अवयव 'प्रयास'है।

यह प्रयास भी दो तरह का हो सकता है-

1. व्यक्तिगत प्रयास
2. सामूहिक प्रयास

1. **व्यक्तिगत प्रयासः**व्यक्तिगत प्रयास के अन्तर्गत शिक्षार्थी अकेले ही इस प्रयास की ओर उन्मुख होता है अथवा अध्यापक किसी एक ही शिक्षार्थी को इस ओर उन्मुख करता है।
2. **सामूहिक प्रयासः** सामूहिक प्रयास के अन्तर्गत अध्यापक व छात्र की ओर से समस्या से परिचित होने अथवा करवाने का प्रयास सामूहिक रूप में होता है।

इसके माध्यम से कक्षा के सभी छात्र अपनी अलग-अलग अथवा सामूहिक सहभागिता से आपस में सहयोगपूर्ण तथा भिन्नतापूर्ण वातावरण के निर्माण में सहयोग देते हैं। व्यक्तिगत स्वतत्रंता के साथ-साथ सामूहिकता को लगातार महत्व मिलता रहता है। हर कोई अपने स्तर पर अपनी भूमिका निभाता हुआ अपने आपको एक जिम्मेदार सदस्य के रूप में पेश करता है। वह अपनी सक्रिय, सकारात्मक भूमिका निभाना सीखता है।

खोज का दूसरा अवयव समस्या के समाधान को ध्यान में रखते हुये अनेक प्रकार की परिकल्पनाओंपर विचार करना व समाधान से जुड़े आकड़ों को इकट्ठा करना है ताकि समाधान की अपेक्षित सामग्री तैयार हो सके।

इसका तीसरा अवयव समस्या के समाधान की प्राप्ति है तथा साथ ही समाधान के लिये प्रयुक्त किये गये चिन्तन पर विचार-विमर्श करना है। इसका तार्किक आधार प्रस्तुत करना है विभिन्न युक्तियों को देना है। सार रूप में खोज पद्धति के दो प्रमुख भाग होते हैं-

1. समस्या की पहचान व आकड़ों का संग्रह।
2. समाधान की उपलब्धि व उस पर गहन चिन्तन तथा विश्लेषण के माध्यम से सिद्धान्त का निर्माण।

इस आधार पर यह छात्रों द्वारा स्वयं ही सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया है। इसे एक वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित तथाक्रमबद्ध शिक्षण की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।

निगमनात्मक तर्क (Deductive Reasoning)

विश्वसनीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों को विकसित करने के लिए पुराने ग्रीकवासी दार्शनिक (Philosopher) अरस्तू और उसके अनुयायियों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। उसने पहले पदों में उदाहरण से Syllogismसे जानी जाने वाली वह विधि विकसित की जिसे 'गहन चिन्तन'कहा जा सकता है जिसमें कोई एक सामान्य कथन तर्क द्वारा विशिष्ट कथन पर पहुँच सकता है। यह ज्ञात से अज्ञात तक चल कर, किसी निष्कर्ष या विचार की वैधता के परीक्षण का साधन प्रदान करता है।

इस तरह के तर्कों में सम्मलित है:

1. प्रमुख साध्य जो स्वयं प्रत्यक्ष या पूर्व स्थापित तथ्य या संबंध पर आधारित हों।
2. किसी एक प्रकरण से संबंधित लघु साध्य जिस पर सत्य, तथ्य या संबंध अपरिवर्ती रूप से अनुप्रयोज्य हों।
3. निष्कर्ष यदि मुख्य या लघु साध्य सही पाया जाता है तो उन पर आधारित निष्कर्ष भी सही होंगे।

इसका एक उदाहरण देखिएः

सब जीव जन्तु नश्वर हैं।

कुत्ता एक जीव है।

अतः कुत्ते की मृत्यु होगी।

निष्कर्ष निकालने में उपयोगी होते हुए भी इस विधि की निम्नलिखित सीमाएं हैं

1. सिलोजिज्म से निकाले गए निष्कर्ष साध्य में निहित विचारों पर आधारित होते हैं। यदि साध्य का वास्तविकता से संबंध नहीं है या आंशिक रूप में वह गलत है तो निकाला गया निष्कर्ष वैध नहीं होगा।
2. इसकी दूसरी सीमा यह है कि यह सिलोजिज्म मौखिक रूप से ही उपलब्ध होते हैं।
3. निगमनिक तर्क से पहले से ही ज्ञात बातें व्यवस्थित हो सकती हैं और ज्ञात से अज्ञात कीओर जाने से नए संबंधों की पहचान हो सकती है परन्तु इसे विश्वसनीय ज्ञान प्राप्ति का पर्याप्त आधार नहीं माना जा सकता।

आगमनात्मक तर्क (Inductive Reasoning)

व्यापकताओं और मान्य प्राधिकारियों के कथनों पर आधारित निष्कर्ष तभी सही निकलेंगे जब सत्य सिद्ध किया हो। इस विधि को आगमनात्मक तर्क (Inductive Reasoning) के नाम से जाना जाता है अर्थात् विशेष से सामान्य की ओर जाना। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक बेकन का मानना था कि प्राधिकारियों के कथनों को पूर्ण सत्य न मानकर, मनुष्य को प्रकृति का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए, उन पर प्रयोग करने चाहिए, जो तथ्य सामने आएँ, उनकी सारणी बनाएँ, सब का अध्ययन कर, छोटे-छोटे व्यापीकरण को उन पर आधारित करना चाहिए। फिर छोटे व्यापीकरण(Generalization) से बड़े व्यापीकरण पर पहुँचना चाहिए। उसने सचेत किया कि किसी समस्या का निदान, बिना तथ्यों को एकत्रित किए, काल्पनिक विचारों के आधार पर नहीं करना चाहिए।

निगममनात्मक तर्क (Deductive Reasoning) में कथन या सामान्यीकरणों के परिपेक्ष्य में ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है जबकि आगमनात्मक तर्क (Inductive Reasoning) घटनाओं के प्रेक्षण प्राप्त निष्कर्षों को आधार बना कर ही पूरी घटना के निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इन घटनाओं को प्रमाणित करने के लिए उनका प्रेक्षण आवश्यक है। बेकन की विधि से तर्क करने के तरीके को पूर्ण आगमन कहा गया है। व्यवहारिक रूप से सभी सामान्य कथनों से संबद्ध प्रत्येक घटना का परीक्षण संभव नहीं हो सकता। किसी स्थिति में केवल कुछ घटनाओं का प्रेक्षण ही सम्पूर्ण का आधार बनाकर व्यापीकरण कर दिया या जाए तो इसे अपूर्ण आगमन (Imperfect Induction) कहेंगे।

यद्यपि अपूर्ण आगमन (Imperfect induction) द्वारा मनुष्य असंदिग्ध निष्कर्ष नहीं निकाल सकता, फिर भी उससे उसे विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होगा जिससे वह उचित निर्णय ले सका।

आगमनात्मक व निगमनात्मक दोनों तरह के तर्कों में कुछ लाभ हैं और कुछ सीमाएँ। यदि साध्य सही है, तो निगमनात्मक तर्कों द्वारा पूर्णतः ठीक निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है। ऐसे निर्णय, साध्यों में निहित पूर्व विदित, व विद्यमान बिन्दुओं तक सीमित रह जाते हैं और उससे आगे सोच विचार की स्थिति नहीं बनती। दूसरी ओर अपूर्ण आगमात्मक तर्कों द्वारा ऐसे सूत्रों का भी पता चल जाता है जिनका घटित घटनाओं में कोई स्थान नहीं या जो सूचना अभी तक अनुपलब्ध थी। यदि प्रेक्षित घटनाएँ सत्य हैं तो निष्कर्षों की सत्यता का प्रतिशत घट- बढ़ सकता है।

अनुभव (Experience)

सभी के व्यक्तिगत अनुभव ज्ञान के सब से आदिम, सर्वविदित और मौलिक (fundamental) स्रोत रहे हैं। पुराने काल में बंजारे व बहुत सी जनजातियों को अपने अनुभवों के आधार पर यह ज्ञान रहता था कि कौन से जंगली फल उन्हें नुकसान करते हैं या अनाज किस मौसम में पक जाते हैं। वह इस बात को भी समझते थे कि वर्षा का पानी पहाड़ी पर नहीं रुक सकता और इसी कारण वर्षा ऋतु में नदियों में अचानक बाढ़ आ जाती है। जब भी कोई ऐसी समस्या खड़ी होती है तो मनुष्य अपने व अन्य व्यक्तियों के इन्ही अनुभवों के आधार पर उसका निदान पाने की चेष्टा करता है। बच्चे बहुधा अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करने के लिए अपने शिक्षकों, माता-पिता या अन्य बड़े-बूढ़ों से प्रश्न करते हैं। अपने या अन्य लोगों के व्यक्तिगत अनुभवों से ज्ञान प्राप्त करना एक सुविधाजनक विधि है मगर उसे बिना जाँच पड़ताल के सहज ही मान लेने से लिए गए निर्णय गलत भी हो सकते हैं।

लेखक वाल डालेन(1973) के अनुसार-

किसी व्यक्ति द्वारा प्रेक्षण में या जो देखा है अथवा किया है, उसके वर्णन करने में गलती हो सकती है।

1. वह ऐसे साक्ष्यों को अनदेखा कर सकता है जिनसे वह स्वयं सहमत नहीं है।
2. ऐसे माप-यंत्रों का प्रयोग करे जिनमें व्यक्तिनिष्ठ आकलन की आवश्यकता हो।
3. अपूर्ण साक्ष्यों के आधार पर विश्वास कर ले।
4. परिस्थिति विशेष से संबंधित महत्वपूर्ण कारकों पर ध्यान न दें।
5. पूर्वाग्रहों के कारण अनुपयुक्त निष्कर्ष निकाल ले।

उपरोक्त टिप्पणियों को ध्यान में रखते हुए अनुभवों को सावधानीपूर्वक प्रयोग करके विश्वसनीय ज्ञान का साधन बनाया जा सकता है।

संवाद (Dialogue) :

ज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न साधनों में 'संवाद'का अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। यह शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से गतिशील है जिसमें किसी चिन्तनशील विषय पर आपसी विचार-विमर्श तब तक निरन्तर बना रहता है जब तक संवाद में भाग लेने वाले सभी प्रतिभागी सामूहिक रूप से एक सामान्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँच जाते। संवाद का सम्बन्ध मूलरूप से दर्शनशास्त्र की 'ज्ञान मीमांसा'शाखा की बुद्धिवादी अथवा संज्ञानवादी परपंरा से है। इसके अन्तर्गत यह मानकर चला जाता है कि मनुष्य केवल एक 'कोरी स्लेट'न होकर एक पूर्व नियोजित बुद्धि वाला चिंतनशील व चेतनप्राणी है जो अपने अनुभवों आदि के आधार पर भाषा का प्रयोग करते हुये अपना पक्ष रख सकता है। बुनियादी तौर पर मौखिक प्रक्रिया होने के कारण संवाद में भाषा के रचनात्मक प्रयोग का अच्छा अवसर प्राप्त होता है।

संवाद पद्धति का मूलआधार इस तथ्य में है कि मनुष्य में विचारात्मक भिन्नताएँ होते हुये भी उनमें ऐसी सामान्यताओं को ढूढ़ा जा सकता है जिन पर सभी एकमत हो सके। इस शैली का सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न अनुभवों पर निर्मित धारणाओं अथवा विचारों से है। प्रारंभिक तौर पर इन धारणाओं के प्रति संदेह प्रकट किया जाता है,इस संदेह के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से इनकी परीक्षा कर 'निष्कर्ष'तकपहुँचने का प्रयास किया जाता है। भिन्न-भिन्न अनुभवों के आधार पर 'सामान्यीकरण' करने का प्रयास किया जाता है ताकि इसे सिद्धान्त का रूप दिया जा सके। पुनः यह सिद्धान्त भी संदेह की श्रेणी में 'आकर'संवाद को निरन्तरता प्रदान करता है। संवाद की यह प्रक्रिया उपयुक्त व्यावहारिक-उदाहरणों पर आश्रित रहती है जिससे विभिन्न विचारों को सरलता से समझा जा सके। प्रश्नों के माध्यम से नवीन चिन्तन के प्रति प्रोत्साहन इसका विशिष्ट प्रयोजन रहता है। अतः प्रश्नों में निपुणता इसका मूल आधार है। दैनिक जीवन में इसका सम्बन्ध जोड़ते हुये माना गया है कि संवाद का महत्व जीवन में दिन-प्रतिदिन अनुभव की जाने वाली समस्याओं के विभिन्न आयामों को समझने से जुड़ा है। संवाद का उपयोग हमारे भीतरी संसार की जटिलताओं, कष्टों तथा जीवन की खुशियों की मानसिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में किया जाता है। एक पद्धति के रूप में यह स्वीकार किया गया है कि संवाद का योगदान नवीन ज्ञान की रचना की अपेक्षा अस्पष्ट एवं अविकसित ज्ञान को स्पष्ट एवं विशिष्ट अथवा स्पष्ट बनाने में निहित है।

संवाद और शिक्षण का सम्बन्ध-

संवाद कक्षा की सक्रियता का लक्षण है। सामान्य तौर पर किसी भी कक्षा में संवाद की स्थिति के ये रूप हो सकते हैं–

1. एकछात्र व एक अध्यापक के बीच
2. छात्रों के बीच
3. कई छात्रों व अध्यापक के बीच

शिक्षण की प्रक्रिया में संवाद विधि चिन्तन के एक प्रेरक के रूप में काम करती है तथा अध्यापक व छात्रों के बीच निरन्तर एक चुनौतीभरा वातावरण बनाती है। साथ ही दोनों में मैत्रीपूर्ण परिस्थितियों का निर्माण करती है। उपनिषदों की शिक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत एक साथ मिलकर बैठने व चिन्तन करने की ओर संकेत है।

संवाद का सामान्य रूप मौखिक रहता है। अतः भाषा की इसमें प्रमुख भूमिका रहती है। इस संवाद को छोटेछोटे समूहों अथवा बड़े समूहो की शिक्षण प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए:

8. ज्ञानार्जन की निगमन व आगमन विधि से आप क्या समझते हैं ?
9. ज्ञानार्जन की अनुभव व संवाद विधि की व्याख्या कीजिए।
10. अन्वेषण व संवाद पर टिप्पणी लिखिए।

1.6 सारांश

शिक्षा से तात्पर्य है - ज्ञानऔर शक्ति, अधिगम तथा मानव और समाज का विकास करना। शिक्षा एक बहुउद्देशीय प्रक्रिया है। शिक्षा के उद्देश्यों में धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य, शारीरिक विकास का उद्देश्य, व्यावसायिक उद्देश्य, ज्ञानात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक, चारित्रिक उद्देश्य आदि प्रमुख हैं।

शिक्षा अधिगम तथा प्रशिक्षण की अवधारणा शिक्षा की इस मान्यता पर आधारित है कि प्राणी कुछ मूल प्रवत्तियों अथवा योग्यताओं के साथ जन्म लेता है और शिक्षा इन प्रवृत्तियों तथा योग्यताओं के विकास एवं संशोधन की प्रक्रिया है। शिक्षण की अनेक क्रियाएँ जैसे अनुदेशन, प्रशिक्षण आदि परस्पर हैं किंतु ये शिक्षण से सम्बद्ध हैं और इन्हे शिक्षण के विभिन्न तरीकों (मोडालिटी) के रूप में माना जाता है।

मनुष्य के लिए ज्ञान का अर्जन और विस्तार कोई स्वचालित व शाश्वत प्रक्रिया नहीं है वल्कि इसके लिए विद्वान व उच्च प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा नियोजित सतत प्रयासों की आवश्यकता है। विद्यमान ज्ञान का स्तर मनुष्य द्वारा सदियों से अपनाई गई अनेक विधियों से प्राप्त उपलब्धियों का परिणाम है यथा-खोज, ज्ञानार्जन की निगमन, आगमन, विधि,अनुभव तथा संवाद आदि।

1.7 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

प्रश्न क्र. 1 के लिए अध्याय 1.2 देखें।

प्रश्न क्र. 2, 3 एवं 4 के लिए अध्याय 1.3 देखें।

प्रश्न क्र. 5, 6 एवं 7 के लिए अध्याय 1.4 देखें

प्रश्न क्र. 8, 9 एवं 10 के लिए अध्याय 1.5 देखें

1.8 शब्दावली

अधिगम
अन्वेषण
अनुदेशन
अनुकूलन
अनुभूति
अनुक्रिया
अनुबंधन
औपचारिक शिक्षण
आगमन विधि
इन्द्रियपरक अनुभव
उद्दीपक
खोज
ज्ञान
ज्ञान की विधियाँ
तर्क-परक
धार्मिक शिक्षा
निगमन विधि
नैतिक शिक्षा
परीक्षा
पाठ्यक्रम
पुर्नबलन
प्रकारत
प्रबलन
प्रेरणा
प्रस्तुतीकरण
प्रश्न पूछना
प्रशिक्षण
प्रतिमान
मतारोपण
मूल्यांकन
मनोवैज्ञानिक आधार
विज्ञान की पद्धति
शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया
संप्रेषण
संवाद
संवेग
सूझ
संबद्ध प्रतिक्रिया
सृजनात्मकता
संस्थागत नियोजन
शिक्षण
शिक्षण-अधिगम
शिक्षण-प्रतिमान
शिक्षण-सूत्र

1.9 संदर्भ पुस्तकें :

1. चाँदकिरण,शिक्षा- दार्शनिकपरिप्रेक्ष्य, हिंदीमाध्यम कार्यान्वयनिदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
2. कमला प्रसाद पाण्डेय, शिक्षण अधिगम की तकनालॉजी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
3. आर. पी. पाठक, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत
4. रामसकल पाण्डेय, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, अग्रवाल पब्लीकेशन्स, आगरा
5. पी. डी. पाठक, शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लीकेशन्स, आगरा
6. रामशकल पाण्डेय (2008), शिक्षा की दाशर्निक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
7. जे.सी अग्रवाल (2010)शिक्षा व्यवस्था का आधार तथा प्रबन्धन,आगरा, अग्रवाल पब्लिकेशन,आगरा
8. उमा रानी शर्मा -शिक्षा के दाशर्निक एवं समाजशास्त्रीय आधार, नई दिल्ली
9. स्वरूप सक्सेना एन.आर. चतुर्वेदी शिल्पा, कुमार धर्मेद, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आर लाल बुक डिपो,मेरठ
10. डार्लिग किंडरस्ले (2012), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा,नई दिल्ली, डार्लिग किडरस्ले प्रा. लि. नई दिल्ली
11. एन.पी. सिंह (2010) शिक्षा दर्शन, दिल्ली,नीलकमल प्रकाशन, दिल्ली
12. ओम प्रकाश गर्ग, चतुर्वेदी सुधा अधिगम का मनोसामाजिक आधार एवं शिक्षा, अपोलो प्रकाशन, जयपुर
13. S.K. Maugal, (2006) Advanced Educational Psychology, prentice Hall of India, New Delhi

इकाई- 2
पाश्चात्य विचारों का योगदान

<u>इकाई की संरचना :</u>

2.0 शिक्षण उद्देश्य
2.1 इकाई परिचय
2.2 प्लेटो
2.3 अरस्तू
2.4 फ्रोबेल
2.5 मारिया मॉन्टेसरी
2.6 रूसो
2.7 डीवी
2.8 पाउलो फ्रेरे
2.9 देकार्ते
2.10 स्पिनोजा
2.11 इमैनुएल कांट
2.12 सारांश
2.13 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर
2.14 शब्दावली
2.15 संदर्भ पुस्तकें

2.0 शिक्षण उद्देश्य:

इस इकाई का उद्देश्य छात्राध्यापकों को शिक्षा संबंधी अवधारणाओं के संदर्भ में पाश्चात्य दर्शनशास्त्रियों या विचारकों के योगदान से परिचित कराना है।

2.1 इकाई परिचय:

किसी भी देश और समाज की शिक्षा एवं उसकी व्यवस्था प्रमुख रूप से वहाँ के जीवनदर्शन, शासन तंत्र, अर्थ व्यवस्था और सामाजिक व सांस्कृतिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। इन सभी को शिक्षा का मूल आधार स्वीकार किया गया है। वस्तुत:शिक्षा, समाज-सुधार और मानव विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। शिक्षा ही समुन्नत एवं समृद्ध राष्ट्र की पहचानऔर उसका मानक होती है। शिक्षा एक विकास की प्रक्रिया अवश्य है, किन्तु यह विकास उचित दिशा में ही होना चाहिए, इसके लिए शिक्षाशास्त्रियों और चिंतकों का आलम्बन चाहिए जो समाज व जनमानस को अपने विचारों तथा सिद्धांतों से प्रेरित करते रहें।

शिक्षाशास्त्र का एक आधुनिक विषय के रूप में विकास पश्चिमी देशों में हुआ है। शिक्षाशास्त्रियों के विचार, सिद्धांत और चिंतन ने विश्व-परिप्रेक्ष्य को अलग-अलग ढंग से अवलोकन और समझने का प्रयास किया है। शिक्षा के विविध पक्षों पर विश्व के महान शिक्षाशास्त्रियों ने अपने-अपने विचार, शिक्षा दर्शन, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति, अध्यापक, शिक्षार्थी, योजना-प्रबंध और अनुशासन आदि अनेक तत्वों का विवेचन कर उपलब्ध कराया है। शिक्षा की आधारशिला को निर्मित करने, विश्व समाज को सुधारने, शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने और सकारात्मक एवं सार्वभौमिक चिंतन काप्रारंभ इन्ही दार्शनिकों, समाज-सुधारकों और शिक्षाशास्त्रियों द्वारा ही संभव हो सका है।

प्रस्तुत इकाई में कुछ महत्वपूर्ण पाश्चात्य शिक्षाशास्त्रियों यथा प्लेटो, अरस्तू, फ्रोबेल, रूसो,डीवी, पालो फ्रेरे, देकार्ते, स्पिनोजा तथा इमैनुएलकांट के शैक्षिक विचारों की चर्चा की गयी है।

2.2 प्लेटो (PLATO)

परिचय:

प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक अमीर एवं प्रसिद्ध परिवार में 429 से 426 ई.पू. के बीच हुआ। उनकी माता सोलन वंश की तथा पिता काड्स वंश के थे। काड्स एथेंस का अंतिम राजा था और सोलन एथेंस का प्रसिद्ध व्यवस्थापक था जिसने एथेंस को प्रसिद्ध कानून भेंट किया था। इन प्रसिद्ध पूर्वजों के कारण प्लेटो के परिवार को ऐश्वर्य एवं सामाजिक सम्मान दोनों ही प्राप्त थे। प्लेटो का पालन-पोषण अमीरों की भाँति हुआ था। अमीर घराने का होने के कारण प्लेटो ने तत्कालीन उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। अपने पिता अरिस्टन से उसने कुश्ती लड़ना सीखा। उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था और देखने में वह सुंदर था। व्यायाम में दक्ष होने के कारण उसने कई प्रतियोगिताएं जीती। उसने एथेन्स की सेना में भी काम किया था। प्लेटो को उस समय की सबसे बढ़िया शिक्षा मिली थी। उसका अध्यापक हिरैक्लिटसका समर्थक था और ऐसी संभावना है कि उसने प्लेटो को हिरैक्लिटस के सिद्धांतों का ज्ञान प्रदान किया हो।

प्लेटो की प्रकृति और उसके प्रारम्भिक रहन-सहन से कोई भी व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि राजनीति उसके लिए स्वाभाविक कार्यक्षेत्र रहा होगा। राजघराने के व्यक्ति से सामान्यतः यही आशा की जाती है, किंतु एथेन्स की तत्कालीन परिस्थिति ने उसे राजनीति की ओर जाने से रोका। प्लेटो के युवावस्था में एथेन्स का सूर्य अस्तांचल की ओर था। स्पर्टा में सामाजिक उन्नति हो रही थी और मैसेडोनिया राज्य विकास के पथ पर था। पैलोपोनियन युद्ध में एथेन्स की बची हुई शक्ति भी समाप्त हो गई।फलतः एथेन्स में प्रजातंत्र के स्थान पर पुनः कुलीनतंत्र स्थापित हुआ। 30 निर्दयी शासकों के हाथ में शासन सूत्र आ गया। उनमें से दो तो प्लेटो के रिश्तेदार ही थे और उन दोनों ने सुकरात के साथ जिस निर्दयता का व्यवहार किया, उसने प्लेटो के मन में राजनीति से वैराग्य उत्पन्न कर दिया। एथेन्स में बाद में पुनः प्रजातंत्र आया, किंतु इस बार एथेन्स सुकरात की हत्या के पाप का भागी हो चुका था। इन सब स्थितियों के कारण प्लेटो राजनीति से विरक्त हो गया।

20 वर्ष की अवस्था में प्लेटो सुकरात के सम्पर्क में आया और उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने व्यक्तित्व को सुकरात के व्यक्तित्व में विलीन कर दिया तथा दर्शन को अपना प्रिय विषय बना लिया। लगभग 8 वर्ष तक प्लेटो सुकरात का शिष्य बना रहा। 1399 ई. पूर्व मे सुकरात को विष दिया गया। उस समय प्लेटो की अवस्था 28 वर्ष की थी। इसके बाद से प्लेटो के जीवन का दूसरा भाग प्रारंभ होता है। अपने परम प्रिय गुरु की निर्मम हत्या से प्लेटो की आत्मा विद्रोह कर उठी। जिस एथेन्स ने उसके गुरु की कीमत नहीं पहचानी, वहाँ रहना प्लेटो ने निरर्थक समझा और एथेन्स के वातावरण को अपने लिए प्रतिकूल पाकर प्लेटो अपने नगर से स्वत: निर्वासित हो गया। प्लेटो 10 वर्ष तक अपने देश से बाहर रहा और अन्य स्थानों के अतिरिक्त उसने मेगारा, मिस्र तथा इटली में काफी समय बिताया। कुछ लोग तो कहते है, कि वह भारतवर्ष में भी आया। मेगारा में उसका मित्र व सहपाठी यूक्लिड रहता था। यूक्लिड सुप्रसिद्ध गणितज्ञ था। प्लेटो की विदेश यात्रा का प्रथम गंतव्य मेगारा ही बना और यहाँ पर उसने यूक्लिड के सहयोग से प्रसिद्ध दार्शनिक पार्मेनाइडिस के सिद्धांत का अध्ययन किया। मिस्र में रहने के

दौरान प्लेटो ने सभ्यता के विकास को अपनी आँखों से देखा और वहाँ की सभ्यता पर उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वहाँ पर उसको पता चला कि मिस्र की सभ्यता की तुलना में एथेन्स की सभ्यता बहुत हीन है। इटली में उसने पायथागोरस के विचार का अध्ययन किया। इटली जाकर उसने शासन-व्यवस्था का अध्ययन किया। इस प्रकार 10 वर्ष तक विदेश-भ्रमण के बाद वह एथेन्स वापस आया और अपनी विश्व प्रसिद्ध पाठशाला 'एकेडमी' की स्थापना की तथा राजनीतिक जीवन से अलग रहकर प्लेटो ने शिक्षा देना प्रारंभ किया। प्लेटो के जीवन का यह तीसरा भाग था। यह काम वह जीवन के अंत तक, लगभग 40 वर्ष तक करता रहा।

प्लेटो ने दर्शन की शिक्षा की प्रेरणा सुकरात से प्राप्त की थी, किंतु दोनोंके रहन-सहन में बड़ा अंतर था। सुकरात गरीब घराने में पैदा हुआ था और गरीबी में ही उसकी मृत्यु हुई। वह फटेपुराने कपड़े पहन कर ही गुजर करता था। सुकरात एथेन्सका एक गरीब नागरिक था, किंतु प्लेटो की स्थिति इससे भिन्न थी। प्लेटो उच्च कुल में पैदा हुआ था और उसने गरीबी में अपना जीवन नहीं व्यतीत किया था। रहन-सहन का यह अंतर दोनों की शिक्षा-प्रणाली में भी प्रकट हुआ। सुकरात मंडी या चौराहे अर्थात सार्वजनिक स्थान पर शिक्षा देता था और प्लेटो ने एक अकादमी अर्थात निश्चित पाठशाला स्थापित की |

प्लेटो का शिक्षा-दर्शन (Platonic Philosophy of Education):

प्लेटो के शिक्षा-दर्शन संबंधी विचार उसकी दो प्रमुख कृतियों 'रिपब्लिक' तथा 'लॉज' में प्रकट हुए हैं। प्लेटो के अन्य संवादों में भी उसके छुटपुट विचार मिलते हैं किंतु उपर्युक्त दो पुस्तकों में तो शिक्षा पर बृहद विवेचन किया गया है। शिक्षा के इतिहास की दृष्टि से 'रिपब्लिक' शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर संसार में सबसे पहली पुस्तक है।

'रिपब्लिक' पहले लिखी गई और 'लॉज' बाद में। दोनों पुस्तकों को पढ़ने से यह पता चलता है कि प्लेटो के शिक्षा संबंधी विचारों में एकरूपता नहीं है। 'रिपब्लिक' में वह नितांत आदर्शवादी होकर हमारे समक्ष आता है और स्पष्ट घोषणा करता है कि अज्ञानता ही सारी बुराइयों की जड़ है, किंतु 'लॉज' में वह अज्ञानता को उतना बुरा नहीं मानता। 'रिपब्लिक' की रचना प्लेटो ने अपने यौवन-काल में की थी, जबकि लॉज वृद्धावस्था मे रची गई पुस्तक थी। ज्यों-ज्यों प्लेटो के विचार परिपक्व होते गये, वह शिक्षा संबंधी विचारों में परिवर्तन करता गया। किंतु अपने सभी संवादों में प्लेटो शिक्षा की क्षमता को स्वीकार करता है और वह समाज के कल्याण का आधार शिक्षा को ही मानता है।

शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education) :

प्लेटो ने नैतिक शिक्षा को एक प्रक्रिया माना है। क्या नैतिकता की शिक्षा दी जा सकतीहै? दूसरे शब्दों में क्या सद्गुण को सिखाया जा सकता है? इस प्रश्न ने प्राचीन यूनान के सभी दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट किया था। सुकरात ने सद्गुण को ज्ञान के रूप में देखा। उसके अनुसार ज्ञान ही सद्गुण है। प्लेटो ने सुकरात के विचारों को आगे बढ़ाते हुए ज्ञान और सद्गुण में भेद किया। प्लेटो केविचार में भद्र मनुष्य में निम्नलिखित चार बातें सम्मिलित हैं-

दर्शनसंबंधी ज्ञान

विज्ञान

ललित कला

बुद्धि द्वारा निर्दोष समझी जाने वाली श्रेष्ठ तृप्ति।

सद्गुण के संबंध में विचार करते हुए प्लेटो कहता है कि प्रमुख सद्गुण चार-हैंबुद्धिमत्ता, साहस, संयम और न्याय। यूनानियों की दृष्टि में अच्छा आदमी राष्ट्र का अच्छा नागरिक होता है। शिक्षा का कार्य राष्ट्र के लिए अच्छे नागरिक तैयार करना है। राष्ट्र में व्यक्तियों के कम से कम तीन वर्ग होने चाहिए। एक तो राष्ट्र के सरक्षंक होने चाहिए, दूसरे, उन संरक्षकों के सहायक सैनिक होने चाहिए तथा संरक्षकों एवं सैनिकों के अतिरिक्त सम्पत्ति का उत्पादक वर्ग भी होना चाहिए। प्रत्येक वर्ग को अपना निश्चित कार्य करना चाहिए। राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था हो कि प्रत्येक वर्ग अपना कार्य करे और दूसरे वर्ग को अपना कार्य करने दे। प्लेटो ने इस व्यवस्था को 'सामाजिक न्याय' कहा है। सामाजिक न्याय की स्थापना जिस प्रक्रिया द्वारा की जाती है उसे 'शिक्षा' कहा जा सकता है। जो गुण समाज के लिए आवश्यक हैं, वह व्यक्ति के लिए भी आवश्यक हैं। प्रत्येक व्यक्ति में इन चारों गुणों का संतुलित विकास होना चाहिए। सामाजिक न्याय की व्याख्या करते हुए प्लेटो कहता है कि राष्ट्र के अन्य दो वर्गों को संरक्षकों के अधीन रहना चाहिए।

बाद में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शापनहार ने प्लेटो की उपर्युक्त सूची का विरोध किया है। वह कहता है कि बुद्धिमत्ता और साहस जीवन के लिए आवश्यक तो हैं किंतु इसे सद्गुण का पद नहीं दिया जा सकता। बहुत से बुद्धिमान एवं साहसी व्यक्तिअपनी बुद्धि एवं साहस का दुरुपयोग करते हैं। संयम का पथ भी निश्चित नहीं है। जो पथ मेरे लिए संयम का है, वह अत्यधिक ठंडी जगहों पर रहनेवालों के लिए संयम का पथ नहीं हो सकता।

कुछ भी हो, प्लेटो स्पष्ट रूप से कहता है कि बुद्धिमत्ता, साहस, संयम एवं न्याय मौलिक सद्गुण हैं एवं व्यक्ति को इनमें प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया ही शिक्षा है। अपनी अंतिम पुस्तक 'राजनियम' (लॉज) में वह कहता है कि"शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो शिशुओं में उचित आदतों के निर्माण के द्वारा सद्गुणों को उत्पन्न करता है। इस प्रशिक्षण से यह योग्यता प्राप्त हो जाती है कि हम उस वस्तु से सदा घृणा करें जिससे हमें घृणा करनी चाहिए और उस वस्तु से सदैव प्रेम करें, जिससे वास्तव में 'प्रेम करना चाहिए। मेरी दृष्टि में इसके प्रशिक्षण को शिक्षा कहना ठीक ही है।"

प्लेटो के अनुसार संयम तथा साहस का विकास अभ्यास से होता है। ये दोनों गुण आदतजन्य हैं। प्रारंभिक जीवन के उचित नियंत्रण से ही आदत तथा अभ्यास सम्भव है। आदत एवं अभ्यास के आधार पर बाद में बुद्धि-तत्व विकसित होता है। इसी बुद्धि-तत्व पर बुद्धिमत्ता एवं न्याय के सद्गुण आधारित हैं। शिक्षा द्वारा इन्हीं सद्गुणों का विकास किया जाता है।

शिक्षा के कार्य तथा उद्देश्य (Functions and Aims of Education) :

प्लेटो ने शिक्षा को सम्पूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग माना है। शिक्षा की असीम शक्ति को प्लेटो स्वीकार करता है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. शिक्षा का प्रथम उद्देश्य राज्य की एकता की रक्षा करना है। सोफिस्टों ने यूनान में व्यक्तिवाद को प्रमुखता दी थी। प्लेटो ने व्यक्ति एवं राज्य के संबंध का सुंदर दार्शनिक विवेचन किया और स्पष्ट किया कि व्यक्ति राज्य के लिए है। इकाई का अस्तित्व पूर्णके लिए होता है। राज्य की स्थिति पूर्णता की है अतः व्यक्ति को राज्य की वेदी पर अपने स्वार्थों को न्योछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अतः शिक्षा का प्रमुख कार्य है कि वह बालकों में सहयोग की भावना उत्पन्न करे समुदाय के प्रति विश्वास जगाए एवं भातृत्व के भाव का विकास करे। इससे यह विदित होता है कि प्लेटो एथेन्स से अधिक स्पार्टा की ओर झुका हुआ था।

2. शिक्षा का द्वितीय उद्देश्य नागरिकता के गुणों का विकास करना है। अच्छे राष्ट्र के निर्माण के लिए अच्छे नागरिकों की आवश्यकता होती है अतः अच्छे नागरिक के गुणों का विकास करना शिक्षा का मुख्य कार्य है। इस कार्य को करने के लिए युवकों में सयंम, साहस एवं सैनिक कुशलता प्रदान करना चाहिए।

3. सुकरात ने कहा था कि सद्गुण के विकास के लिये ज्ञान आवश्यक है। प्लेटो ने बुद्धिमत्ता को सद्गुण का पद दिया है। प्लेटो के अनुसार विवेक ही सामाजिक व्यवस्था की नींव है। यह विवेक प्रत्येक शिशु में सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहता है अतः शिक्षा का यह भी उद्देश्य है कि इस विवेक को जागृत किया जाए। विवेक से ही जीवन नियंत्रित हो सकता है। जब तक विवेक जागृत न हो जाए तब तक शिशु को बड़ों के ही नियत्रंण में रखा जाए।

4. शिक्षा का चौथा उद्देश्य 'सत्यम, शिवम एवं सुंदरम' के प्रति आस्था उत्पन्न करना है। जन्म के समय शिशु इन्द्रियों का दास होता है। अत: धीरे-धीरे उसमें सत्यम-शिवम एवं सुंदरम के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए।

5. प्लेटो के अनुसार जीवन में कई विरोधी तत्व विद्यमान रहते हैं। इन विरोधी तत्वों को पहचानना एवं इनमें संतुलन स्थापित करना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्यहै।

6. शिक्षा का उद्देश्य एक अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करना है। अच्छा व्यक्तित्व संतुलित होता है तथा वह स्व के नियंत्रण में रहता है। स्वनियंत्रित व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल आचरण करने की योग्यता रखता है। अनुकूलन की यह योग्यता शिक्षा के द्वारा ही संभव है।

7. प्लेटो सामाजिक वर्गों का पक्षपाती था। उसके अनुसार समाज में तीन वर्ग मुख्य हैं। पहलावर्ग संरक्षकों का है, दूसरा सैनिकों का और तीसरा व्यवसायियों का। यूनानी समाज में उस समय दास प्रथा प्रचलित थी और यूनान में अनेक दास विद्यमान थे। प्लेटो ने इन दासों की स्थिति को यथावत स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज की भाँति प्लेटो भी चार वर्णों में विश्वास करता था। भारतीय विचारधारा एवं प्लेटो की विचारधारा में इस अद्भुत समानता के विषय में कुछ विचारकों का कहना है कि प्लेटो भारत आया था और उसके विचारों पर भारतीय वर्णव्यवस्था की छाप-पडी थी। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का कार्य प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह अपने अनुकूल सामाजिक वर्ग का सक्षम सदस्य बन सके।

8. शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानव शिशु को मानव बनाना है। उसमें मानवता के गुणों का विकास करना है।

पाठ्यक्रम (Curriculum)

प्लेटो ने पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने में बालक की क्रियाओं को ध्यान में रखा है। पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में प्लेटो ही प्रथम व्यक्ति था जिसने पाठ्यक्रम पर कुछ व्यवस्थित विचार प्रकट किए।

प्लेटो के अनुसार जीवन के प्रथम 10 वर्षों में छात्रों को अंकगणित, रेखागणित, संगीत तथा नक्षत्र विद्या की कुछ बातें सिखानी चाहिए। अंकगणित तथा रेखागणित आदि का अध्ययन, गिनती करना सीखने के लिए ही नहीं वरन इन विषयों में निहित जीवन के शाश्वत संबंधों को जानने के लिए भी करना चाहिए।

माध्यमिक स्तर के छात्रों के लिए कविता, गणित, खेल-कूल, कसरत, सैनिक प्रशिक्षण, शिष्टाचार, संगीत तथा धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा का विधान होना चाहिए।

प्लेटो के विचार में तत्कालीन यूनानी समाज में खेलकूद की शिक्षा अनुपयुक्त हो गई थी। प्लेटो के अनुसार खेलकूद की शिक्षा का उद्देश्य प्रतियोगिताओं में भाग लेना न होकर मनोरंजन तथा शारीरिक गठन की प्राप्ति होना चाहिए। इससे आत्मानुभूति भी संभव है।

प्लेटो के पाठ्यक्रम में कसरत, नृत्य, संगीत तथा खेल-कूद का स्थान बड़ा ऊँचा था। इसके अलावा प्लेटो ने काव्य तथा साहित्य की शिक्षा पर भी बल दिया है। काव्य को उसने बौद्धिक जीवन का मूल स्रोत माना है। गणित की शिक्षा का भी वह समर्थक था।

प्लेटो के पाठ्यक्रम में डायलेक्टिक (Dialectic) का स्थान सर्वप्रमुख था। उसका प्रस्ताव था कि इसका अध्ययन उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को करना चाहिए।उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में नीतिशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, आध्यात्मशास्त्र, प्रशासन, कानून की शिक्षा को स्थान मिलना ही चाहिए। प्लेटो ने 'डायलेक्टिक' शब्द का प्रयोग वास्तव में इन सभी विषयों के सम्मिलित ज्ञान के लिए किया है। डायलेक्टिक में ये सभी विषय सम्मिलित है। डायलेक्टिक का अध्ययन सत्य की खोज के लिए होता है।

शिक्षण विधि (Method of Teaching):

जहाँ तक शिक्षण विधि का प्रश्न है प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात की विधि को स्वीकार किया था। यह विधि वार्तालाप अथवा डायलेक्टिक की विधि थी। प्लेटो ने वार्तालाप की ही विधि को सर्वश्रेष्ठ माना। वस्तुतः इस विधि में विषय के अनेक पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं और भाग लेने वाले व्यक्तियों को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिल जाता है। इस विधि में प्रत्ययों का निर्धारण हो जाता है।

शैक्षिक प्रशासन (Education Administration) :

प्लेटो के समय में एथेन्स में शिक्षा परिवार द्वारा प्रबंधित थी जबकि स्पार्टा में शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण था। एथेन्स की उस समय अवनति हो रही थी और प्लेटो ने इस अवनति का कारण शैक्षिक प्रशासन को भी माना था। प्लेटो ने शिक्षा को राज्य का अनिवार्य कर्तव्य माना था। प्लेटो का मानना था कि सभी बच्चे राज्य की सम्पत्ति हैं, किसी परिवार की नहीं। अतः जन्म के समय शिशुओं को उनके माता-पिता से अलग करके राज्य द्वारा नियंत्रित किसी शिशुशाला में रखा जाए और बालकों व बालिकाओं को सार्वजनिक सरकारी स्कूलों में शिक्षा दी जाए। प्लेटो का मानना था कि राज्य के सभी बच्चे शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी नहीं है। केवल प्रतिभाशाली बालक ही शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षा के व्यय का सारा भार राज्य पर होना चाहिए।

स्त्री शिक्षा (Women Education) :

प्लेटो ने स्त्री के महत्व को स्वीकार करते हुए बताया है कि पुरुष एवं स्त्री में कोई मौलिक भेद नहीं होता है। जो कार्य पुरुष कर सकते हैं वह कार्य स्त्रियाँ भी कर सकती हैं। यह बात दूसरी है कि पुरुष अधिक बलवान होते हैं, और स्त्रियों से अपेक्षाकृत शक्तिशाली होते हैं। पर ये भेद गुण का न होकर मात्रा का होताहै। अतः स्त्रियों व पुरूषों को एक जैसी शिक्षा मिलनी चाहिए। अत:खेल-कूद, व्यायाम, घुड़सवारी, सैन्य-संचालन आदि की शिक्षा केवल पुरूषों को ही नहीं वरन स्त्रियों को भी मिलनी चाहिए।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए :

1. प्लेटो के शिक्षादर्शन की समीक्षा कीजिए।

2.3 अरस्तू (ARISTOLE)

परिचय:

अरस्तू का जन्म मैसेडोनिया के नगर स्टेजीरा में हुआ था। उनके पिता यूनानी थे किंतु जीविकोपार्जन हेतु मैसोडोनिया में जाकर बस गये थे तथा वह राजा फिलिप के चिकित्सक थे। अरस्तू को प्रारंभ में ही अन्य शिक्षा के साथ डाक्टरी की शिक्षा भी मिली। अरस्तू 17 वर्ष की अवस्था में एथेन्स पहुँच कर प्लेटो की अकेडमी में शिक्षा प्राप्त करने लगे। वहाँ पर उन्होंने 20 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। अरस्तू प्लेटो के सर्वाधिक मेधावी शिष्य थे। प्लेटो अपने शिष्य अरस्तू को 'एकेडमी का मस्तिष्क' और 'सर्वोत्तम पाठक' कहा करते थे। अरस्तू गुरुभक्त तो थे किंतु उनका अपना मौलिक चिंतन भी था। वह विद्याव्यसनी थे। उस समय मुद्रण-कला का आविष्कार नहीं हुआ था अतः अरस्तू को जब भी कोई हस्तलिखित लेख मिल जाता तो वह उसे खरीद लेते थे और उसके आधार पर खोज करने लगते थे।

प्लेटो की मृत्यु के बाद एकेडमी के लिए आचार्य की नियुक्ति का प्रश्न उठा। अरस्तू सर्वाधिक योग्य थे किंतु उन्हें एथेन्स में विदेशी समझा जाता था। अतः प्लेटो के भतीजे स्प्यूसिप्पस को एकेडमी का आचार्य नियुक्त किया गया। इस घटना से अरस्तू के हृदय को ठेस लगी और वह एथेन्स छोड़कर अपने पुराने सहपाठी हरमियस के पास लघुएशिया चले गए। वहाँ उन्होंने ह्रमियस की भतीजी के साथ शादी कर ली। कुछ समय पश्चात मैसेडोनिया नरेश फिलिप ने अपने पुत्र सिकंदर को पढ़ाने के लिए अरस्तू को निमंत्रण भेजा। अरस्तू ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और अपनी जन्मभूमि पर फिर पहुँच गए। अरस्तू ने सिकंदर को 4 वर्ष तक पढ़ाया। अध्यापक और छात्र के रूप में अरस्तू तथा सिंकदर का यह संबंध महत्वपूर्ण एवं प्रभावी ऐतिहासिक संयोग था। अरस्तूकी शिक्षा से सिकंदर बहुत प्रभावित हुआ। अरस्तू ने सिकंदर को सद्गुणों की शिक्षा दी और इस तरह सिकंदर के जीवन पर अरस्तू की शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा।

जब सिकंदर अपने पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा तो अरस्तू 334 ई. पू. में एथेन्स वापस लौट गए। वहाँ उन्होंने एथेन्स के उपनगर अपोलो में अपना एक विद्यालय स्थापित किया, जिसका नाम 'लिसियस' रखा। वह इस विद्यालय के संस्थापक आचार्य थे। एथेन्स के सामान्य नागरिक अरस्तू को विदेशी समझते थे। अतः वे उससे शत्रुता रखते थे। सिकंदर की मृत्यु के पश्चात एथेन्स में अपने विरुद्ध वातावरण को समझ कर अरस्तू ने अपने कुछ शिष्यों के साथ एथेन्स छोड़ दिया। एथेन्स छोड़ने के पश्चात् 322 ई. पू. में अरस्तू का निधन हो गया।

अरस्तू का दर्शन (Aristotle's Philosophy) :

अरस्तू तत्वज्ञान को विज्ञान पर आधारित करना चाहते थे। उन्होंने भौतिक संसार के आभास को नहीं माना तथा उनकी समझ में जगत की यथार्थ सत्ता थी। अरस्तू ने प्लेटो की आलोचना करते हुए कहा थाकि"मैं प्लेटो के प्रति श्रद्धारखता हूँकिंतु सत्य के प्रति उससे भी अधिक श्रद्वावान हूँ। अरस्तू ने विज्ञान पर कई लेख लिखेहै, किंतु उनका महत्व अब ऐतिहासिक ही है।

तत्वज्ञान के क्षेत्र में प्लेटो ने एक तो इसे प्रयासों का शाश्वत संसार माना और दूसरा विशेष पदार्थों का अनित्य जगत। अरस्तू ने भी विशेष और सामान्य का अंतर देखा, किंतु सामान्य को उन्होंने पदार्थों के सार के रूप में देखा। प्लेटो के तत्व ज्ञान का प्रत्यय विशेष पदार्थों से अलग था, अरस्तू का सामान्य तत्व पदार्थ के अंदर ही मौजूद था। इन दोनों अंशों को अरस्तू ने'सामग्री और आकृति' कहा था। भौतिक-पदार्थ,सामग्री और आकृति का संयोग है।

दर्शन के इतिहास में यदि प्लेटो से पूर्व के भौतिकशस्त्रियों में या एक विशेष रूप में 'प्लेटो में नहीं तो कम से कम अरस्तू में तो यथार्थवादी विचारधारा पायी ही जातीहै। जिस सीमा तक प्लेटो सार्वभौमिक विचारों को असीमित मस्तिष्क से स्वतंत्र मानते थे उसी सीमा तक इस विशेष अवस्था में वह यथार्थवादी दर्शन का मार्ग तैयार करने वाले माने जा सकते हैं, लेकिन इस संभावित अपवाद के होते हुए भी प्लेटो आदर्शवादी दार्शनिकता के जन्मदाता मानेजाते हैं।

यद्यपि अरस्तू, प्लेटो के 20 वर्ष तक शिष्य रहे तथा उनसे काफी प्रभावित हुए थे। तथापि अरस्तू के दर्शन में प्लेटो के विचारों की प्रतिक्रिया के रूप में बहुत कुछ विद्यमान है। प्लेटो ने सामान्य के पक्ष में विचार किया था जबकि अरस्तू ने विशेष में अभिरुचि ली थी। प्लेटो विचारों में विश्वास करते थे जबकि अरस्तू को वस्तुओं ने आकृष्ट किया था। प्लेटो ने आदर्श में विश्वास किया परंतु अरस्तू ने वर्तमान वास्तविकताओं को परखा। प्लेटो ने वर्तमान समय में विभिन्न विज्ञानों के सम्पूर्ण ज्ञान को एक क्रम में रखा, जबकि अरस्तू ने विज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया और वर्तमान समय के विभिन्न विज्ञानों के 'आश्चर्यजनक' भेदों का पता लगाया। उसी प्रकार अपनी 'भौतिकी' नामक पुस्तक में अरस्तू ने कहा हैकि प्रकृति ही दार्शनिक विचारों का प्रारंभिक बिंदु है तथा इसको अपनेमहत्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

अरस्तू का शिक्षा दर्शन (Aristotile's Philosophy of Education) :

अरस्तू ने मानव जीवन में 'राजनीति के महत्व को स्वीकार किया था। उनके अनुसार शिक्षा और नैतिकता राजनीति के ही अंग हैं। अरस्तू ने राज्य को शिक्षा के लिए उत्तरदायी ठहराया है। अरस्तू की दृष्टि में समाज और राज्य पृथक् न होकर एक ही हैं। उनके अनुसार शिक्षा एक कला है। इस कला का संबंध व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन से है।

शिक्षा का उद्देश्य (Aim of Education) :

अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य आनंद की प्राप्ति है और इसी आनंद को प्राप्त करने के लिए ही सभी व्यक्ति प्रयत्न करते हैं। अरस्तू ने मन के बौद्धिक व क्रियात्मक पक्षों में भेद को देखा। उन्होंने मन का विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सद्गुण का संबंध मन के बौद्धिक पक्ष से इतना नहीं है जितना कि संकल्प (क्रियात्मक) शक्ति से है। संकल्प मनोदशा के रूप में न होकर क्रियात्मक होता है, अतः अच्छाई भी क्रिया से संबंधित है। शिक्षा द्वारा अच्छाई का विकास करना है ताकि व्यक्ति सुखी हो सके। अरस्तू का मानना है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करे जिससे नागरिकों को अच्छाई का अभ्यास करने का अवसर प्राप्त हो सके।

पाठ्यक्रम (Curriculum) :

अरस्तू ने पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय सर्वप्रथम उस समय के प्रचलित पाठ्यक्रम का विश्लेषण किया। उन्होंने देखा कि उस समय का पाठ्यक्रम बड़ा ही अनिश्चित था। उस समय के पाठ्यक्रम को चार भागों में बाँटा जा सकता था- (1) पढ़ना (2) लिखना (3) व्यायाम (4) संगीत तथा चित्रकला। अरस्तू ने इन सभी विषयों को अच्छा बताया। पर उन्होंने इन विषयों के उद्देश्य तथा इनके क्षेत्र को स्पष्ट किया। उनके अनुसार पढ़ने-लिखने की शिक्षा व्यावहारिक उपयोगिता के आधार पर होनी चाहिए। दैनिक जीवन में पढ़ने-लिखने की आवश्यकता है, अतः लिखना-पढ़ना जरूरी है। कसरत को उन्होंने शरीर के लिए ही आवश्यक बताया है। उन्होंने कहा कि व्यायाम आत्मा की उन्नति के लिए भी

होना चाहिए। संगीत की शिक्षा केवल गाने-बजाने के लिए नहीं है बल्कि संगीत से संवेगों का परिष्कार एवं विकास किया जाना चाहिए। चित्रकला को भी उन्होंने आत्मा के उन्नयन के लिए आवश्यक बताया है।

शिक्षण विधि (Method of Teaching) :

अरस्तू ने शिक्षण-विधि के क्षेत्र में बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया। उन्होंने कहा कि सच्चा ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है। उनका विचार था कि मस्तिष्क ज्ञात से अज्ञात की ओर और स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। इसी प्रकार नैतिक सिद्धांतोंकी शिक्षा भी स्थूल से सूक्ष्म की ओर होनी चाहिए। विज्ञान सदा स्थूल पर ही आधारित है। दूसरे शब्दों में विज्ञान अनुभव जन्य है किंतु नैतिक सिद्धांतों केलिए यह आवश्यक नहीं है। नैतिक सिद्धांत स्वयं सिद्ध हैं। वे अनुभव पर आधारित नहीं फिर भी नैतिक शिक्षा का कार्य ज्ञात से अज्ञात और स्थूल से सूक्ष्म हो सकता है इन्द्रियों को ज्ञानार्जन का आधार माना गया है। अतः अरस्तू की शिक्षा-प्रणाली अनुभवाश्रित थी। उन्होंने आगमन प्रणाली (Method of induction) को महत्वपूर्ण माना। आगमन प्रणाली में विशिष्टों के आधार पर सामान्यीकरण (Generalization) किया जाता है। इस प्रणाली का उपयोग हम आज भी व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि की शिक्षा में करते हैं।

शिक्षा योजना (Education Plan) :

अरस्तू ने 'राजनीति' नामक पुस्तक में शिक्षा के स्तरों पर भी विचार किया है। उनके अनुसार आदर्श शिक्षा के तीन पक्ष हैं- शरीर को प्रशिक्षित करना आदर्श शिक्षा का प्रथम पक्ष है, और आत्मा के अबौद्धिक अंश (अर्थात् संवेगात्मक अंश) का प्रशिक्षण आदर्श शिक्षा का दूसरा पहलू है जबकि आत्मा के बौद्धिक अंश की शिक्षा तीसरे पहलू के अंतर्गत आती है। पहले रूप में हम कसरत, खेल-कूद आदि की शिक्षा रखते हैं। दूसरे में संगीत, साहित्य अथवा नैतिक शिक्षा तथा तीसरे में विज्ञान एवं दर्शन आते हैं। शिक्षा के प्रथम दो रूप साधन हैं, तीसरा रूप साध्य है।

अरस्तू के अनुसार पढ़ना-लिखना सिखाने से पहले बालक के शरीर को सुगठित बनाना चाहिए। अतः व्यायाम की शिक्षा सबसे पहले-स्तर पर हो इसके बाद शिक्षा का दूसरा स्तर आएगा और उसमें संगीत, साहित्य एवं नैतिकता की शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षा का तीसरा स्तर दर्शन व विज्ञान का है। यह शिक्षा का उच्चतम स्तर होता है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

2. अरस्तू के शिक्षादर्शन की विवेचना कीजिए।

2.4 फ्रेडरिक फ्रोबेल (FREDRICH FROEBEL) :

परिचय :

फ्रेडरिक फ्रोबेल का जन्म सन् 1782 ई. में जर्मनी के एक गाँव ओवर बेसबारव में हुआ था। वे अभी अबोध शिशु ही थे कि उनकी माता का देहान्त हो गया। फलस्वरूप बचपन अत्यन्त ही उपेक्षित रहा। पिता पादरी थे, अतः समय के अभाव में बालक फ्रोबेल की समुचित देखभाल करने में वे सर्वथा असमर्थ थे। घर के धार्मिक वातावरण तथा स्थानीय प्राकृतिक सौंदर्य ने उनके मन पर गहरी छाप डाल दी इस प्रकार प्रारंभ से ही फ्रोबेल ने विश्व की समस्त वस्तुओं में व्याप्त एकता का दर्शन किया। शिक्षा की किण्डरगार्टन विधि के जन्मदाता फ्रेडरिक फ्रोबेल थे। वे ईश्वर की सत्ता का सर्वत्र दर्शन करने वाले महान आदर्शवादी दार्शनिक थे। उन्होंने घोषित किया कि सृष्टि के सभी पदार्थों में एक शाश्वत नियम व्याप्त रहता है। वस्तुतः यह सार्वभौम एकता ही ईश्वर है। फ्रोबेल के इस नवीन शिक्षा दर्शन ने शिक्षा क्षेत्र में एक महान क्रांति को जन्म दिया।

फ्रोबेल का शिक्षा दर्शन (Froebel's Philosophy of Education) :

फ्रोबेल आदर्शवादी आध्यात्मवाद के पोषक थे। वह एक अद्वैतवादी दार्शनिक थे। वह समस्त विश्व में ईश्वर की सत्ता का दर्शन करते थे और यही कारण है कि विश्व के समस्त प्राणियों में, समस्त वस्तुओं में एक अक्षुण्ण आंतरिक एकता की वह घोषणा करते थे। उन्होंने वस्तुतः यह अनुभव किया कि विश्व की समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों में एक शाश्वत नियम व्याप्त है। इसके आधार में सार्वभौम चेतना तथा अभिन्नता स्थित है। यही अभिन्नता तथा एकता ईश्वर है। यही फ्रोबेल का दार्शनिक सिद्धांत है। फ्रोबेल के शिक्षा दर्शन के मूल में भी यही आध्यात्मिक सिद्धांत है।

फ्रोबेल का विश्वास था कि प्रत्येक जीव अथवा प्राणी में ईश्वरीय सत्ता व्याप्त है। इस सत्ता अथवा शक्ति का विकास प्रत्येक प्राणी में अपने ढंग से होता है। वस्तुतः इस विकास के पीछे एक सुसंबद्ध प्राकृतिक योजना कार्य करती है। अतः फ्रोबेल रूसो की तरह मूल प्रवृत्तियों के स्वतंत्र तथा पूर्ण प्रस्फुटन विकास को अत्यधिक महत्व देता है। इसमें कृत्रिम बाधायें अथवा नियम बाधक ही होते हैं। अतः स्वतः क्रिया द्वारा बच्चों का विकास स्वाभाविक एवं स्वस्थ रूप में होता है। फ्रोबेल चाहता है कि बच्चे स्वयं अपने मन से सक्रिय होकर अपनी प्रेरणाओं तथा भावनाओं को पूर्ण करने के लिए कार्य करें। उसके विचार में मिट्टी अथवा वस्तुओं के कार्य बच्चों से कराकर उनके जीवन को वास्तविक रूप से उन्नतिशील तथा विकासात्मक बनाया जा सकता है। इसे ही स्वतः क्रिया अथवा रचनात्मक क्रियाशीलन द्वारा अभिव्यक्ति तथा विकास का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत कहा जाता है।

फ्रोबेल के शिक्षा दर्शन में समाज को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रूसो ने समाज से दूर प्रकृति की एकांत गोद में शिक्षा की व्यवस्था की है, किंतु फ्रोबेल ने शिक्षा के सामाजिक आधार को आवश्यक माना है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति मूलतः सामाजिक है। अतः उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा शैक्षणिक क्रियाएँ समाज में ही हों। वह कहता है कि शिक्षोपरांत तो व्यक्ति को समाज में ही विभिन्न उत्तर दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है। इसलिए उसकी शिक्षा व्यवस्था भी समाज में ही होनी चाहिए जिससे उसे सामाजिक आचरणों का समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हो तथा अपने दायित्वों का पूर्ण ज्ञान हो सके।

फ्रोबेल ने व्यक्ति को व्यावहारिक, दक्ष एवं उपयोगी बनाने के लिए घरेलू परिश्रम साध्य कार्य करने की व्यवस्था को भी शिक्षा का आवश्यक अंग बताया है। खेल, बोझ उठाना, जमीन खोदना, पानी खीचना, ढेला अथवा पत्थर फोड़ना आदि क्रियाओं को अपने किण्डरगार्टन में समावेश किया। वस्तुतः उसने बालक, शाला तथा समाज तीनों को समन्वित कर दिया। सामाजिक सहयोग के कार्य, स्वयं क्रिया तथा बौद्धिक क्रियाशीलन 'किण्डरगार्टन' प्रणाली के प्राण हैं। वस्तुतः किण्डरगार्टन विद्यालय समाज का एक लघुरूप ही बन जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education) :

जीवन की पूर्णता, संस्कृति की पूर्णता,बहु मुखी विकास एवं जीवनप्रकृति के सभी अंगों में व्याप्त सामंजस्य का बोध करवाना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। इनके द्वारा प्रकृति, ईश्वर तथा एकता के भाव का विस्तार होता है। सर्वेश्वरवादी होने के नाते फ्रोबेल का विश्वास है कि ईश्वर सभी में व्याप्त है। अतः इस एकता का ज्ञान करवाना ही शिक्षा का उद्देश्य हो सकता है।

उपर्युक्त उद्देश्य का दूसरा पक्ष है बालक में संकल्प शक्ति (Will Power)का विकास करना। संकल्प शक्ति चारित्रिक-गठन का आधार है। इसलिए सम्पूर्ण पाठशालीय शिक्षा का उद्देश्य तो संकल्प शक्ति का विकास होना चाहिए। संकल्प शक्ति और बालक की अंतःप्रकृति का संबंध समझना होगा |

चरित्र-निर्माण का उद्देश्य फ्रोबेल का भी था और हरबार्ट का भी। किंतु दोनों की दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्नभिन्न थी।

किण्डरगार्टन (Kindergartner) :

फ्रोबेल ने 'किण्डरगार्टन' शब्द का अभिप्राय 'बच्चों की फुलवारी' से लिया है, जिसमें बच्चों का वही स्थान है जो फुलवारी में पौधों का है। बालक के सम-विकास के सिद्धांत में विश्वास करने के कारण फ्रोवेल ने बालक के जीवन के आरंभिक वर्षों को बड़ा महत्व दिया है। वह बालक की पौधों से तुलना करते हैं। उनका कथन हैं कि बीज में छिपी हुई शक्ति के आधार पर ही उसमें पत्तियाँ व शाखाएँ निकल आती हैं। इसी प्रकार बालक भी अपने अंदर छिपी हुई प्रवृत्तियों व भावनाओं के आधार पर विकसित होता है।

फ्रोबेल का विश्वास था कि बच्चों को अपनी आंतरिक शक्तियों को विकसित करने को पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिए जिससे कि उन शक्तियों में अधिक से अधिक अभिवृद्धि हो सके। किण्डरगार्टन के अंदर यही सिद्धांत निहित था। इस दृष्टि से सफलतापूर्वक अपना कार्यकरने के लिए शिक्षक को बालक की आंतरिक प्रवृत्तियों तथा रुचियों से पूर्णतया परिचित होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह बच्चों को आत्म-क्रिया के लिए प्रेरित करे। इस प्रकार ज्ञान लक्ष्य न होकर बालकों के विकास का साधन बन जाएगा। बालक को स्कूल के कार्यों में आत्म-निर्भरता की शिक्षा भी देनी चाहिए। उसे ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि वह भी एक महत्वपूर्ण व्यक्ति है। जब वह स्वयं काम करेगा तो उसमें यह भावना अपने आप आ आएगी और इस प्रकार उसे अपनी आंतरिक प्रवृत्तियों को मूर्त रूप देने में भी सहायता मिलेगी। अतएव उसे क्रिया द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिए।

बाल्यावस्था खेल के लिए है न कि काम के लिए। फ्रोबेल कहते हैं कि खेल बाल-विकास की उच्चतम स्थिति है क्योंकि वह आत्म के स्वाभाविक अभिव्यक्ति एवं आंतरिक आवश्यकताओं व भावनाओं को व्यक्त करने का साधन है। इस आयु में मनुष्य की शुद्धतम व आध्यात्मिक क्रिया खेल मानी जा सकती है। अतः इससे हर्ष, आनंद, स्वच्छंदता, संतोष, सुख तथा संसार में शांति मिलती है

शिक्षण विधियाँ (Methods of Teaching) :

फ्रोबेल के मतानुसार बालक संगीत, हाव-भाव तथा वस्तुओं के निर्माण के द्वारा अपने विचारों तथा भावनाओं को प्रकट करता है। उन्होंने बताया कि इतिहास का शिक्षण अभिनय तथा संगीत के द्वारा किया जाना चाहिए तथा बच्चे की कल्पना-शक्ति का विकास उसके समक्ष ठोस उदाहरण प्रस्तुत करके करना चाहिए।

शिक्षक को चाहिए कि बच्चों के लिए गाने, चित्र तथा खेलों इत्यादि के चयन में बड़ी सावधानी से काम लें, क्योंकि उपयुक्त चयन पर बालक की रुचि निर्भर है, परंतु फ्रोबेल इन तीन साधनों को इस प्रकार नहीं अपनाना चाहता था कि इनका जीवन से अथवा कोई पारस्परिक संबंध ही न रहे।

उपहार तथा उद्यम (Gifts and Occupation) :

उपहार बालक के समक्ष किसी न किसी क्रिया का मूर्त रूप प्रस्तुत करते हैं और उन्हें बालक के विकास की अवस्थाओं के अनुरूप क्रम से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उद्यम उन क्रियाओं को कहा गया है जो कि उपहारों से भासित होती हैं। उपहारों को क्रमपूर्वक प्रस्तुत करने से ही बालक में विभिन्न विचारों के लिए प्रेरणा उत्पन्न होती है और वह एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर बढ़ता जाता है।

प्रथम उपहार: इसमें विभिन्न रंगों की छः ऊन की गेंदें होती हैं। बालक उनसे खेलता है और घुमाता है। यह घुमाना ही उद्यम है। ये ऊनी गेंदें ही बालक को रंग, विशेष पदार्थ, रूप, गीत तथा दिशा का ज्ञान कराती हैं।

द्वितीय उपहार: द्वितीय उपहार में सख्त लकड़ी के बने हुए घन, गोला तथा बेलन (Cube, Sphere and Cylinder) होते हैं। उद्यम के क्रम में बालक इन तीनों उपहारों की गतियों को देखता है

तृतीय उपहार इस उपहार में आठ समान भागों से विभाजित एक बड़ा लकड़ी का घन होता है। यह आठ टुकड़े भी घनाकार होते हैं और बालक को यह बताते हैं कि खण्ड का इकाई से क्या संबंध है। इन घनों की सहायता से बालक अन्य पदार्थों की रचना कर सकता है जैसेकुर्सी, मेज, बेंच, सीढ़ी इत्यादि।

अन्य उपहार: इनके अतिरिक्त अन्य उपहार भी हो सकते है; जैसे छड़ी तथा पटिया इत्यादि। इनसे खेलते समय, बालक को रेखाओं, धरातल तथा बिंदुओं एवं उनके पारस्परिक संबंधों का ज्ञान होता है। रचना की दृष्टि से बालक को कागज़दफ्ती, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य पदार्थों की सहायता से विभिन्न वस्तुओं को बनाने की शिक्षा दी जा सकती है।

किण्डर गार्टन पद्धति में शिक्षक निष्क्रिय व्यक्ति नहीं रहता है। इस पद्धति में उसका महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं होता है। जब बच्चों को उपहार दिए जाते हैं तो शिक्षक का कार्य होता है कि उन्हें वह विभिन्न उद्यमों को बताए, जो कि उपहारों से संबंधित हों। उन्हें कुछ क्रियाओं का प्रदर्शन करके भी दिखाना चाहिए। जब शिक्षक बालक को उपहार भेंट करता है तो वह उससे संबंधित गाना गाता है और इस प्रकार उनके मस्तिष्क में उपयुक्त विचार उत्पन्न करने में सहायता देता है।

पाठ्यक्रम (Curriculum) :

फ्रोबेल ने स्कूल के पाठ्यक्रम की ओर भी ध्यान दिया है। उन्होंने इसे चार भागों में विभाजित कर दिया है: (1) धर्म तथा धार्मिक शिक्षा (2) प्राकृतिक विज्ञान व गणित की शिक्षा (3) भाषा की शिक्षा तथा (4) कला एवं कला के उद्देश्य की शिक्षा। विद्यालय का उद्देश्य यह नहीं है कि वह सभी बालकों को किसी न किसी कला अथवा सभी कलाओं में कुशल कलाकार बना दें, वरन् उसका उद्देश्य तो सभी मानवोंकापूर्ण एवं सर्वांग विकास कराना है।''

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए :

3. फ्रोबेल के "उपहार तथा उद्यम" के शैक्षिक महत्व स्पष्ट कीजिए।

2.5 मॉरिया मॉण्टेसरी (MORIA MONTESSORI) :

परिचय :

मॉरिया मॉण्टेसरी का जन्म इटली में सन् 1870 ई. में हुआ था। उनके माता-पिता बुद्धिमान और प्रत्येक दृष्टि से संपन्न थे। मॉण्टेसरी की शिक्षा-दीक्षा विधिवत हुई। 24 वर्ष की अवस्था में सन् 1894 ई. में उन्होनें रोम के विश्वविद्यालय से एम.डी. (M.D) की उपाधि प्राप्त की। डाक्टरी की परीक्षा पास करने के पश्चात उसी विश्वविद्यालय में उन्हें पिछडे हुए तथा मंद बुध्दि शिक्षार्थी की शिक्षा का भार सौंपा गया। इस उत्तरदायित्व को उन्होंने सफलतापूर्वकनिभाया और पिछडे हुए शिक्षार्थियों के संबंध में अनेक अन्वेषण किए।

अपनी शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् मॉण्टेसरी संसार के समक्ष प्रारंभ में एक चिकित्सक के रूप में आईं और लोगों ने अनुमान लगाया कि यह महिला मंदबुद्धि शिक्षार्थियों की चिकित्सा से संबंधित कुछ बातें ज्ञात करेगी। किंतु मंदबुद्धि शिक्षार्थी के साथ काम करते-करते उनकी रुचि शिक्षण पद्धति में भी जागृत हुईऔर उन्होंने देखा कि तत्कालीन शिक्षा पद्धति में अनेक दोष हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए उन्होनें पिछड़े हुए शिक्षार्थियों की शिक्षा के लिए कई प्रयोग किए। उन्होंने मनोवैज्ञानिक विकास पर विशेष बल दिया। अपने प्रयोगों में उन्होंने डॉक्टर इटार्ड (Dr. Itard) से काफी प्रेरणा ली।

मॉण्टेसरी ने पिछडे हु ए शिक्षार्थियों की शिक्षा के लिए विशिष्ट पद्धति को जन्म दिया, जिसे 'मॉण्टेसरी पद्धति ' कहा जाता है। उन्होनें शिक्षकों के एक सम्मेलन में पहले अपने विचार प्रकट किए। बाद में पिछडे हु ए शिक्षार्थियों के लिए एक विद्यालय स्थापित किया। उन्हें नई पद्धति से शिक्षा देने लगीं। उन्होनें देखा कि नई पद्धति से पिछडे हु एशिक्षार्थियों का आश्चर्य जनक विकास होता है। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर इटली की सरकार ने उन्हें बाल गृह का अध्यक्ष बना दिया। बाल गृह में रहकर उन्होंने अपनी शिक्षण पद्धति को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाया। अपनी पद्धति की सफलता से प्रभावित होकर उन्होनें सोचा कि यदि इस पद्धति को साधारण बुद्धि वाले शिशुओं पर भी प्रयोग किया जाए तो इन्हें इसमें भी सफलता मिलेगी। उन्होनें यह निष्कर्ष निकाला कि जो पद्धति मंद बुद्धि शिक्षार्थी के लिए भी उपयुक्त है, वही पद्धति तीन वर्ष के सामान्य बुद्धि के शिक्षार्थी के लिए भी उपयोगी है। इस प्रकार उन्होनें अपनी पद्धति के सहारे सामान्य एवं मंद दोनों प्रकार की बुद्धि के शिक्षार्थियों को शिक्षित करना प्रारंभ किया। वह अपनी पद्धति को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने में संलग्न रहीं। तीन से छः वर्ष के बच्चों की शिक्षा की ओर उनका सबसे अधिक ध्यान था। उन्होनें मॉण्टेसरी पद्धति (Montessori Method) नाम से एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई। मॉण्टेसरी पद्धति धीरे-धीरे लोकप्रिय होती गई और यूरोप के देशों में इस पद्धति को अपना लिया गया। मॉण्टेसरी पद्धति को प्रचार करने के लिए मैडम मॉरिया मॉण्टेसरी ने यूरोप के कई देशों का भ्रमण किया। सन् 1939 ई. में भारत आईं और थियोसोफिकल सोसायटी के तत्वाधान में उन्होने अपनी पद्धति पर भाषण दिया। मद्रास में उन्होने मॉण्टेसरी संघ की एक शाखा भी स्थापित की। इंडियन ट्रेनिंग टीचर्स इंस्टीट्यूट (Teacher Institute), अदियार (मद्रास) की निर्देशिका का पद भी उन्होने सुशोभित किया और अहमदाबाद में लगभग एक हजार व्यक्तियों कों उन्होने मॉण्टेसरी पद्धति में दीक्षित किया।

मॉरिया मॉण्टेसरी के शिक्षा सिद्धांत (Educational Principles of Montessori)

मॉण्टेसरी रूसो के प्रकृतिवाद से प्रभावित थी, और पेस्टालॉजी के मनोविज्ञान के प्रति भी उनका आकर्षण था इसलिए उन्हानें पेस्टालॉजी के काम को आगे बढाया, और शिक्षण पद्धति को नवीन मनोविज्ञान पर आधारित किया। मॉण्टेसरी के शिक्षा सिद्धातों का नीचे संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है :-

1. खेल द्वारा शिक्षा :

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मॉण्टेसरी के अनुसार शिक्षा शिक्षार्थी की प्रकृति के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षार्थी की रुचि खेल में स्वभाव से ही होती है। बालक की सबसे प्रिय वस्तु खेल है। अतः प्रारंभ में खेल द्वारा ही शिक्षा देना ठीक है। शिक्षार्थी को शैक्षिक यंत्र दे दिए जाएं तो वह उनसे खेलने लगेगा। शिक्षार्थी के खेल में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना ठीक नहीं हैं। शिक्षार्थी यंत्रों से खेलता रहता है, और खेल में ही वह वर्णमाला, गणित आदि विषय सीखता है। इन उपकरणों की सहायता से उसकी ज्ञानेंद्रियाँ भी विकसित होती हैं।

2. व्यक्तिगत आधार द्वारा शिक्षा :

मॉण्टेसरी, व्यक्ति की शिक्षा का उद्देश्य बताती है। अतः वह शिक्षा को व्यक्तिगत आधार देना चाहती हैं। प्रत्येक शिक्षार्थी को उसके स्वभाव के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए। अतः समूह की शिक्षा देने से काम नहीं चलेगा। कुछ पाठ ऐसे अवश्य होते हैं जिनका सामूहिक शिक्षण लाभप्रद हो सकता है। सामूहिकता की भावना के उदय के लिए ऐसे पाठों का सामूहिक शिक्षण किया जा सकता है। ऐसे समय में भी व्यक्तिगत ध्यान की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

3. तार्किक अनुशासन का सिद्धांत:

यदि शिक्षार्थी को स्वतंत्रता दी जाए और उन्हें आत्म-रक्षा के लिए प्रेरित किया जाए, तो उनमें अनुशासनहीनता का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अनुशासन बाहर से नहीं लाया जा सकता है। यह तो अंतः प्रेरणा की वस्तु है। अतः छात्रों में उत्तरदायित्व की भावना भरनी चाहिए जिससे वे अनुशासन के प्रति सजग हो जाएँ। बालक स्वयं ही अनुशासन स्थापित कर लेंगे। ऐसा अनुशासन तर्क पर आधारित होने के कारण अच्छा रहेगा।

4. उपयुक्त वातावरण:

अपेक्षित विकास के लिए शिक्षाप्रद वातावरण बहुतआवश्यक है। मॉण्टेसरी ने बाल गृहों को वास्तविक विद्यालय बताया है क्योंकि वहां पर शिक्षार्थी संरचनात्मक कार्यों में जुटे रहते हैं और संरचनात्मक कार्यों में आनंद लेते हुएवे बहुत सी बातें सीख जाते हैं। मॉण्टेसरी विद्यालयों में उपयुक्त वातावरण के निर्माण में बहुतबल दिया जाता है।

5. स्वतंत्रता:

रूसो की भाँति मॉण्टेसरी भी शिक्षार्थी की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में है। शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उसे अत्यधिक नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता। शिक्षार्थी को अपनी रुचि के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। सही शिक्षा प्राकृतिक एवं स्वतंत्र वातावरण में होती है। शिक्षार्थी की रुचि में अवरोध उत्पन्न करने से उसके विकास में बाधा पडती है। मॉण्टेसरी ने शिक्षार्थी की मूलप्रवृतियोंएवं रुचियों को ही शिक्षा का आधार माना है। उसके अनुसार स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा देने का उद्देश्य - बालक में स्वावलंबन, आत्मविश्वास आदि गुणों को उत्पन्न करना है।

6. वैयक्तिता का विकास :

मॉण्टेसरी के अनुसार शिक्षा विकास की एक प्रक्रिया है किंतु यह आंतरिक होता है। उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की 'वैयक्तिता का विकास' करना है। मॉण्टेसरी ने बालक के प्राकृतिक विकास पर बल दिया। उनके अनुसार शिक्षार्थी को भविष्य में क्या बनना है, वह उसमें जन्म के समय ही बीज रूप में विद्यमान होता है। अतः शिक्षक का कार्य जन्म के समय उपस्थित शक्तियों के विकास का वातावरण प्रदान करना है।

7. आत्म शिक्षा :

मॉण्टेसरी का कथन है कि सच्ची शिक्षा वह है जिसमें शिक्षार्थी अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वयं सीखता है। अपने आप ज्ञान की खोज करने से ज्ञान का सच्चा रूप सामने आता है। इस सिद्धांत द्वारा स्वानुभव के सिद्धांत के महत्व को स्वीकार किया गया है। शिक्षक को अपनी ओर से कोई आज्ञा या निर्देश नहीं देना चाहिए। शिक्षार्थी जब अपने आप कुछ सीखता है और अपनी उन्नति देखता है तो वह बहु तप्रसन्न होता है।

आत्म-शिक्षा के लिए मॉण्टेसरी ने कुछ शैक्षिक यंत्रों का निर्माण किया है। शिक्षार्थी को ये शैक्षिक यंत्र दे दिए जाते हैं और वह उनसे खेलने लगता है। इन यंत्रो को प्रबोधक यंत्र कहा जा सकता है। जब शिक्षार्थी एक प्रकार के यंत्र से खेलते-खेलते थक जाता है तो उसे छोड़ देता है। फिर वह दूसरे यंत्र की ओर प्रेरित होता है। यह प्रेरणा उसकी आत्मा से ही मिलती है। अतः बालक बहु तरुचि के साथ खेल खेलता है और प्रसन्न हो जाता है।

8. ज्ञानेंद्रिय प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा:

मॉण्टेसरी के अनुसार ज्ञानेंद्रिय की शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। वस्तुतः ज्ञानेंद्रिय निर्बल हु ईतो उस इंद्रिय से प्राप्त ज्ञान भी निर्बल होगा। इसलिए, वे ज्ञानेंद्रिय की शिक्षा पर विशेष बल देती हैं। मॉण्टेसरी के अनुसार तीन से सात वर्ष की अवस्था में ज्ञानेंद्रियों के विकास पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। यदि इस अवस्था में ज्ञानेंद्रियों के विकास पर ध्यान न दिया गया तो साधारण बुद्धि का शिक्षार्थी भी मंद बुद्धि बन जाएगा।

9. कर्मेन्द्रियों की शिक्षा:

ज्ञानेंद्रियों की भाँति कर्मेंद्रियाँ भी मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। शरीर के अंग सबल बनें, इसलिए यह आवश्यक है कि अंगो के सही संचालन की शिक्षा दी जाए। जब तक मांसपेशियों को नियंत्रित नहीं किया जाता तब तक उसे अंग संचालन में कठिनाई का अनुभव होगा। बच्चे को उछल-कूद, भाग-दौड़ से सम्बन्धित क्रियाओं में व्यस्त करना चाहिए ताकि वह अपने मांसपेशियों में नियंत्रण करना सीख जाए। यदि बालक मांसपेशियों पर नियंत्रण की क्षमता प्राप्त कर लेता है तो उसमें आत्म-निर्भरता आ जाती है।

मॉन्टेसरी प्रणाली के सूत्र :

1. शिक्षार्थी को वैयक्तिक रूप से प्रशिक्षण देना।
2. बुद्धि के स्थान पर ज्ञानेन्द्रियों को जागरूक करना।
3. प्रारम्भिक अवस्थाओं में स्पर्श ज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिए अन्यथा वह अपना गुण खो बैठता है।
4. शिक्षार्थी के सामान्य विकास में क्रियात्मक रूप से सहायता देनी चाहिए।
5. जिस व्यायाम का प्रयोग किया जाए,वह ऐसा होना चाहिए कि बालक के किसी अंग विशेष के विकास की आवश्यकता की पूर्ति करता हो।
6. मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा करो। जब तक किसी बात की आवश्यकता का अनुभव न होने लगे, कुछ भी मत सिखाओ।
7. कोई जटिल पाठयक्रम नहीं।
8. कोई पारितोषिक नहीं। शिक्षार्थी के स्वयं का विकास ही पारितोषिक है।
9. शिक्षार्थी का भूल सुधार शिक्षक की ओर से न होकर उस के आधार पर ही होना चाहिए, जिसके द्वारा वह शिक्षा पाता है।
10. रूसो तथा स्पेंसर की भाँति आत्म.शिक्षा पर बल।
11. परिणामों को भोगने के द्वारा ही मानसिक अनुशासन आता है।
12. शिक्षार्थी को पूर्ण स्वतंत्रता-शिक्षार्थी को अपनी प्रकृति के आधार पर अपने विकास सम्बन्धी नियमों के अनुसार अनुशासन में रहना चाहिए।
13. अपने व्यक्तित्व के उन्मुक्त प्रदर्शन के लिये बालकों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए।

1. व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी अभ्यास :

1. बच्चे को नाखून, हाथ, दाँत, बटन, वस्त्रों इत्यादि के सम्बन्ध में शिष्टाचार बताना।
2. स्वतंत्रतापूर्वकरहने की शिक्षा।
3. शिशु गृहकी सज्जा व सामग्री को बिना शोर मचाये सजाना।
4. सीढ़ियों पर चढ़ने उतरने में उन्हें अभ्यस्त बनाना।

2) शिक्षाप्रद सामग्री की सहायता से ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण

1. प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय का यथासंभव पृथक्प्रशिक्षण।
2. श्रवण सम्बन्धी अभ्यास शांतिमय वातावरण में ही नहीं, अपितु कुछ अंधकारपूर्णवातावरण में भी होना चाहिए।
3. आकार ज्ञान कराने के लिये काष्ठ निर्मित बेलन, डंडे, चौकोर टुकडे तथा विभिन्न आकार के इसी प्रकार के पदार्थों का प्रयोग।
4. आकृति के लिये धातुनिर्मित ज्यामिति सम्बन्धी सामग्री।
5. वजन का अनुभव कराने के लिए लकडी के तख्तों इत्यादि का प्रयोग।
6. स्पर्श ज्ञान के लिये अत्यन्त चिकना धरातल और किसी खुरदरे वस्तु का प्रयोग।
7. तापमान का अनुभव कराने के लिए शीतल अथवा ऊष्ण जल का प्रयोग।
8. श्रवण क्रियाओं के लिये बेलनाकार ध्वनि यन्त्र जिनमे विभिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हों।
9. रंग भेद के लिये-रंगीन लकड़ी के क्रमानुसार लगे हु एटुकड़े अथवा विभिन्न रंगों के 64 कार्ड।
10. पाठ का तीन खण्डों में विभाजन जैसा कि सैग्युनने किया है।

a) नाम के साथ ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क स्थापित करना।

b) नाम जानने के उपरान्त पदार्थ को पहचान लेने मे प्रशिक्षण।

c) पदार्थ के साथ ही उसका नाम पढ़ लेना।

11. पढ़ने से पूर्व ही लिखना सिखा देना।

मॉण्टेसरी शिक्षा पद्धति (Montessori Method of Teaching):

मॉण्टेसरी शिक्षा पद्धति को हम निम्नलिखित तीन भागों में रख सकते हैं -

1. ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा
2. कर्मेन्द्रियो की शिक्षा
3. भाषा की शिक्षा

1. ज्ञानेंद्रिय की शिक्षा:

यह पहले कहा जा चुका है कि मॉण्टेसरी ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा पर बल देती थीं। उन्होंने ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा के लिए शैक्षिक उपकरणों का सहारा लिया है। शिक्षार्थी की चक्षु-इंद्रिय को प्रशिक्षण देने के लिए उसे भिन्न-भिन्न रंगों की टिकियाँ दी जाती हैं और उससे एक बार में एक रंग की टिकियों को निकालने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार से उसको रंगों की पहचान हो जाती है। इसी प्रकार श्रवण-इंद्रिय को प्रशिक्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार से उसकों रंगों की पहचान हो जाती है। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के विकास के लिए रूमालों से भरा एक डिब्बा दिया जाता है। रूमाल, चिकने, खुरदरे, मखमली तथ ऊनी होते हैं। इसी प्रकार घ्राणेद्रिंय के विकास के लिए बोतलें दी जाती हैं, जिनमें गंधयुक्त द्रव होता है। स्वादेंद्रिय को प्रशिक्षित करने के लिए नमक, चीनी, चाय आदि की शीशियां दी जाती हैं। ज्ञानेंद्रियों के विकास के लिए मॉण्टेसरी ने अनेक प्रकार के उपकरणों का प्रयोग किया है।

2. कर्मेन्द्रिय की शिक्षा:

बाल गृह में सर्वप्रथम बालक की कर्मेन्द्रियों को प्रशिक्षित किया जाता है। तीन से सात वर्ष की आयु के बालकों को अपना कार्य अपने आप करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। बाल गृह का वातावरण ऐसा बना दिया जाता है कि बालक सभी काम अपने आप करता है। चलना-फिरना, उठना, हाथ-मुंह धोना, कपडे पहनना व उतारना, मेज-कुर्सी ठीक स्थान पर रखना, भोजन बनाना, भोजन परोसना, बर्तन मांजना आदि कार्य छात्र स्वयं करते हैं। इन कार्यों में शिक्षार्थी आनंद लेता है और इस प्रकार उसकी कर्मेंद्रिंयों का विकास हो जाता है। वह सभ्य बनता चला जाता है और बात-चीत करना सीख जाता है। शिक्षार्थी के स्वास्थ्य एवं आयु के अनुसार व्यायाम भी कराया जाता है।

3. भाषा की शिक्षा:

इस संदर्भ में मॉण्टेसरी के सिध्दांत का निष्कर्ष यह है कि शिक्षार्थी को पहले सीखना चाहिए, उसके बाद पढना। लिखते-लिखते शिक्षार्थी पढ़ना तो अपने आप सीख जाता है। लिखना सिखाने के पहले शिक्षार्थी का मांसपेशियों की साधना आवश्यक है। अतः शैक्षिक उपकरणों की सहायता के पहले शिक्षार्थी हाथ और अन्य अंगों में समन्वय करना और अंगों का उचित संचालन करना सीखता है। इस प्रकार वह कलम या पेंसिल पकड़ना सीख जाता है। लिखना-सीखने के लिए बालक लकडी अथवा गत्ते पर बने हु एअक्षरों पर उंगली फेरता है। उंगली फेरने के समय शिक्षक अक्षर का उच्चारण करते रहते हैं। इस प्रकार शिक्षार्थी उस अक्षर का उच्चारण करना भी सीख जाता है।

मॉण्टेसरी विद्यालय (Montessori School):

मॉण्टेसरी विद्यालय में शिक्षार्थी को खेल द्वारा शिक्षा दी जाती है। इसलिए, खेल के लिए विद्यालय में काफी बड़ा मैदान होता है जिसमें बालक खुले वातावरण में खेल सकते हैं। बच्चों के बैठने के लिए छोटी- छोटी कुर्सियां तथा मेजें होती हैं जिन पर बैठकर कभी-कभी खेल भी खेलते हैं। मैदान में कुछ कंबल बिछा दिए जाते हैं जिन पर बैठकर बालक खेलतें है। चाय पीने के लिए छोटे-छोटे कप तथा प्लेटें होती है। 'टी पॉट' से बच्चे चाय परोसते हैं और इतनी सावधानी बरतते हैं कि जरा भी चाय नहीं गिरती है। कोई खाद्य या पेय पदार्थ मेजपोश पर भी नहीं गिरता है। विद्यालय में एक बडा कमरा और कई छोटे-छोटे कमरे होते हैं। बड़े कमरे में पढ़ाई होती है और छोटे कमरों में खाना बनाना, व्यायाम आदि होते हैं। विद्यालय में सभी सामान बच्चों की सुविधा के अनुसार एकत्र किया जाता है। सभी चीजें छोटी-छोटी रहती हैं ताकि बच्चे इधर-उधर सामान को उठाकर ले जा सकें। बडे कमरे में कई छोटे संदूकहोते हैं जिनमें शिक्षा के उपकरण रखे होते हैं। श्यामपट्ट पर शिक्षार्थी चित्र भी बनाया करते हैं। मॉण्टेसरी विद्यालय की कुछ अन्य प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. मॉण्टेसरी विद्यालयों में कोई कठोर अनुशासन नहीं होता।
2. कोई पुरस्कार नहीं दिया जाता। विकास ही पुरस्कार है।
3. शैक्षणिक उपकरणों के सहारे शिक्षा दी जाती है।
4. रूसो और स्पेंसर की आत्मशिक्षा पर अनुगमन होता है।
5. शिक्षक एक योग्य निर्देशक होता है। शिक्षक को यह जानकारी होनी चाहिए कि उसे कब हस्तक्षेप करना है और कब नहीं ।
6. मॉण्टेसरी विद्यालय में शिक्षार्थी को पूरी स्वतंत्रता रहती है।
7. बुद्धि से अधिक इंद्रियों पर ध्यान दिया जाता है।
8. बच्चों को व्यक्तिगत रूप से प्रशिक्षित किया जाता है।
9. स्पर्श की संवेदना मौलिक संवेदना है अतः इसका सर्वाधिक ध्यान रखा जाता है।

मॉण्टेसरी पद्धति का मूल्यांकन (Evaluation of Montessori Method) :

गुण -

1. छोटी उम्र के बच्चों के लिए यह विधि बड़ी उपयुक्त है।
2. बच्चों को वस्तुओं के प्रयोग करने में आनंद मिलता है।
3. मॉण्टेसरी व्यक्ति की महानता में विश्वास करती थी।
4. उनकी पद्धति में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर ध्यान दिया जाता है।
5. मॉण्टेसरी की पद्धति वैज्ञानिक है। वह अनुभव और निरीक्षण पर बल देती है।
7. उपकरणों द्वारा शिक्षा देने का उनका विचार सराहनीय है।
8. वे ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा पर अधिक बल देती हैं। निस्संदेह, ज्ञानेंद्रियों से मस्तिष्क का विकास होता है।
9. लिखने की शिक्षा देने का उनका ढंग शिक्षार्थी के विकास के स्वरूप के अनुकूल है।
10. शिक्षार्थी को खेल बड़ा प्रिय होता है। मॉण्टेसरी पद्धति में खेल द्वारा शिक्षा दी जाती है।
11. उनका अनुशासन का विचार श्रेष्ठ है। उनके अनुसार अनुशासन बाहर से नहीं लादा जाता, बल्कि अंदर से विकसित किया जाता है।

दोष -

1. इस पद्धति में केवल एक ही ज्ञानेंद्रिय की एक बार शिक्षा दी जाती है। ज्ञानेंद्रिय की पृथक् शिक्षा संकाय मनोविज्ञान (Faculty Psychology) पर आधारित होती है। किंतु, इस सिद्धांत का मनोविज्ञान में अब परित्याग हो चुका है।
2. कहने को तो इस पद्धति में स्वतंत्रता है, किंतु एक समय में एक उपकरण को देकर शिक्षार्थी की स्वतंत्रता को हम सीमित कर देते हैं।
3. इस पद्धति द्वारा शिक्षार्थी में सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता है।
4. इस पद्धति में समय बहु तनष्ट होता है।
5. यह पद्धति अधिक खर्चीली है, अतः गरीब समाज में लागू करना कठिन होता है।
6. इस पद्धति में शिक्षार्थी से कुछ तो ऐसे कार्य कराए जाते हैं जो उसकी अवस्था के अनुकूल नहीं कहे जा सकते।
7. विलियम किलपैट्रिक (Kilpatrick) का कहना है कि इस पद्धति में शिक्षार्थी के व्यक्तित्व के विकास पर बल दिया जाता है, किंतु उसके सामाजिक विकास पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता, अतः विकास एकांगी होगा।
8. स्टर्न (Stern) का कहना है कि शैक्षिक उपकरणों से बुद्धि का एकांगी विकास होता है। रंग, रूप, ध्वनि पर अलग-अलग बल देने से मस्तिष्क के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है।
9. स्प्रैंगर (Spranger) का कहना है कि मॉण्टेसरी पद्धति में काल्पनिक खेलों की उपेक्षा की गई है। शिक्षार्थी की असंतुष्ट मूलप्रवृत्तियों का रेचन (Catharsis) इन्हीं काल्पनिक खेलों से होता है। इस रेचन के अभाव में भावना ग्रंन्थियों के बनने का भय होता है।
10. हेसन (Hessen) का कहना है कि मॉण्टेसरी पद्धति में खेल के वास्तविक सिद्धांत का अभाव है। खेल, खेल के लिए हो, तभी वह खेल होगा अन्यथा कार्य हो जाएगा।
11. मॉण्टेसरी पहले लिखना सिखाना चाहती थीं, यह प्रश्न विवादास्पद है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए :

4. मॉन्टेसरी प्रणाली के प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

2.6 रूसो (RUSSEAU)

परिचय:

रूसो जिनेवा नगर में पैदा हुआ था। इनकी माँ बाल्यकाल में ही चल बसीं और पिता ने व्यर्थ केउपन्यासों द्वारा उसे कल्पना, संवेदना तथा अकाल प्रौढ़ता दे दी। वह जिनेवा नगर से बाहर दो वर्ष रहा तथा उसने प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न कर लिया। बुरी संगति तथा आलस्य में उसने कई वर्ष व्यतीत कर दिए। घर से भागकर छोटी मोटी नौकरी द्वारा वह पेट पालता रहा।

सन् 1750 में डिजान अकादमी में 'विज्ञान का नैतिकता पर प्रभाव' नामक निबंध पढ़कर वह लोगों की दृष्टि में ऊँचा हो गया और तीसरे वर्ष पुनः उस स्थान पर दूसरा निबंध पढ़कर चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। इस निबंध का शीर्षक था ''मनुष्य की असमानता''। यह निबंध उसे समाज विरोधी तथा प्रकृतिवादी दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध करा गया।

राबर्ट यूलिच के अनुसार वह समाज के लिए अनुपयुक्त थातथा उसकी असाधारण बुद्धि, समाज की आलोचना से मनुष्यों को उकसाकर उसे एकाएक प्रसिद्धि दिलाने में सफल हो गई। रूसो का अंतिम समय अपमान, चिंता तथा जीवन के प्रति भय में व्यतीत हुआ। वह सन् 1766 ई. से 1768 ई. तक इग्लैण्ड, जिनेवा तथा फ्रांस इत्यादि देशों में भागता रहा तथा अंत में सन् 1778 में फ्रांस में मर गया। उसके मरने के 15 वर्ष के पश्चात फ्रांस की राज्यक्रांति के अवसर पर उसे महान व्यक्ति तथा क्रांतिकारी होने का गौरव प्राप्त हुआ।

उसकी मुख्य रचनाएँ हैं हेलोज (Heloise), सामाजिक समझौता (Social Contract) तथा एमिली (Emile)।

रूसो का शिक्षा दर्शन:

रूसो को प्रकृतिवाद का पिता कहा जाता है। वस्तुतः उन्होंने ही इस आंदोलन को शिखर तक पहुँचाया। इनके बारे में 'आदम' महोदय ने कहा है कि''Russeau was perhaps the most prominent naturalist who ever wrote on Education.'' रूसों की पुस्तक 'एमिली' ने शिक्षा की विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होंने घोषणा की कि बच्चों के सुंदर विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन पर से समस्त नियंत्रण हटा लिए जाएँ। रूसो परम्परागत तथा औपचारिक शिक्षा के विरोधी थे। औपचारिक शिक्षा को तो वह मानव द्वारा निर्मित एवं कृत्रिम शिक्षा मानते थे। उनकी यह मान्यता थी कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त सभी वस्तुएँ एवं जीव पवित्र हैं किंतु मानव के सम्पर्क में आते ही सब के सब अपवित्र व विकृत हो जाती हैं। ('Everything is good as it comes from the hand of author nature but every thing degenerates in the hands of man'' -Russeau')उसने यह भी कहा है: ''God makes all things good, man medles with them and they become evil. अतः रूसो ने कहा कि बच्चों को वयस्कों से अलग रखा जाए। उन्हें सामाजिक परम्पराओं एवं स्थानों से दूर रखा जाए। उसने कहा कि बच्चों की शिक्षा प्रकृति की गोद में प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होनी चाहिए। यथा- ''children should be educated in contact with nature and according to nature''

बच्चे 'बच्चे' हैं अतः उनके साथ विकसित मानव जैसा व्यवहार ठीक नहीं है। उनकी शिक्षा तो स्वाभाविक ढंग से होनी चाहिए न कि बाह्य सूचनाएँ उनके मानस में भरी जाएँ। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो बच्चों की शिक्षा को प्रकृति की गोद में, प्रकृति के नियमों के अनुसार एवं बच्चों के स्वभाव के अनुकूल रखने का पक्षपाती है।

शिक्षा के उद्देश्य:

रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक के आंतरिक अंगों और शक्तियों का स्वाभाविक विकास करना है। शिक्षा के द्वारा बालक को जीवित रहने में सहायता दी जानी चाहिए। जीवित रहने का तात्पर्य साँस लेने से नहीं है, बल्कि काम करने से है, जीवन-कार्य करना, शरीर के विभिन्न अंगो, ज्ञानेन्द्रियों तथा विभिन्न शक्तियों का विकास और उनका उचित प्रयोग करना है। अपनी पुस्तक 'एमिली' में रूसो'एमिली'को जीवनशैली के व्यवसाय की शिक्षा देना चाहते हैं जिससे कि वह सैनिक, पादरी, मजिस्ट्रेट आदि न बनकर सबसे पहले मनुष्य बनेगा। इस प्रकार रूसो के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को सही अर्थों में मनुष्य बनाना है।

किंतु फिर भी शिक्षा के उद्देश्य बालक के विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियों के साथ-साथ बदलते जाते हैं, क्योंकि विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न बातों पर विशेष जोर देने की आवश्यकता होती है। बालक के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

शैशवावस्था (Infancy):

यह जन्म से पाँच वर्ष की अवस्था है। इसमें शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शारीरिक विकास है। शारीरिक स्वास्थ्य ही बालक के मानसिक स्वास्थ्य का आधार होता है। रूसो का कहना था- ''समस्त दुष्टता निर्बलता से आती है। बालक को सबल बनाया जाना चाहिए, जिससे कि वह ऐसा नहीं करेगा जो कि बुरा हो।''

बाल्यावस्था (Childhood):

एमिली में यह 5 से 12 वर्ष तक की अवस्था है। इस अवस्था में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक की ज्ञानेन्द्रियों का विकास करना है।

किशोरावस्था (Adolecence) :

एमिली में यह अवस्था 12 से 15 वर्ष तक मानी गई है। इस आयु में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य किशोर व्यक्ति को नाना प्रकार का उपयोगी और आवश्यक ज्ञान दिया जाना चाहिए, जिससे कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

युवावस्था (Yonghood):

यह काल रूसो ने 15 से 20 वर्ष तक माना है। इसमें शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भावनाओं का विकास करना है जैसा कि रूसो ने लिखा है, 'हमने उसके शरीर, उसकी इन्द्रियों' और उसकी बुद्धि का निर्माण किया है और उसे एक हृदय देना शेष रह जाता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर, इन्द्रियों, बुद्धि और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक भावनाओं का विकास है।

शिक्षण विधि (Method of Teaching):

शिक्षण विधि में रूसो प्रत्यक्ष अनुभव को अत्यधिक महत्व देता है। यही कारण है कि इसका सिद्धान्त है- ''क्रिया के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति''। रूसो का कहना है कि ''विद्यार्थियों को कोई मौखिक ज्ञान मत दो। क्रिया के द्वारा शिक्षा दो और जब क्रिया का सहारा एकदम काम नहीं करे तब शब्दों का सहारा लो। पुस्तकीय ज्ञान जितना कम हो उतना ही अच्छा है''। भाषा शिक्षण में भी प्रत्यक्ष विधि (Direct Mehod of Teaching) से ही काम लिया जाए। विज्ञान शिक्षण में भी विद्यालय के बाहर प्राकृतिक क्रियाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रयोगशाला

का अनुभव अधिक उपयोगी होता है। भूगोल का शिक्षण विद्यालय के कमरों में ग्लोब तथा मानचित्रों के सहारे नहीं होना चहिए। वह तो यात्राओं एवं वास्तविक निरीक्षण में ही सफल है। इस प्रकार रूसो शिक्षण विधि में शिशु को केन्द्र बिंदु मानते हैंपुस्तक अथवा शिक्षक को नहीं।

पाठ्यक्रम (Curriculum):

रूसो ने अपनी पुस्तक 'एमिली' के लिए एक पाठ्यक्रम का निर्माण किया था। यह पाठ्यक्रम 'निषेधात्मक शिक्षा' पर आधारित है। रूसो के अनुसार, निषेधात्मक शिक्षा वह है, (1) जो ज्ञानेन्द्रियों का प्रत्यक्ष ज्ञान देने के पूर्व समर्थ एवं सक्षम कर दे तथा (2) जो विचार शक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने हेतु ज्ञान वस्तुओं का प्रयोग कराए। निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धांत शारीरिक शिक्षा के क्षेत्र में बतलाता है कि बच्चों की गति एवं व्यायाम में स्वतंत्रता हो, भोजन सादा हो, ढीले, अल्प तथा हल्के कपड़े हों। बौद्धिक शिक्षा के क्षेत्र में निषेधात्मक शिक्षा का कहना है कि मौखिक पाठ, पुस्तकें तथा वास्तविक अध्ययन का सर्वथा अभाव हो। यही पाठ्यक्रम का स्वरूप होगा।

स्त्री शिक्षा (Women Education):

रूसो ने अपनी पुस्तक 'एमिली' में स्त्री शिक्षा का वर्णन किया है। ग्रीक दर्शन का अनुकरण करके रूसो ने स्त्री-पुरुष की भिन्न-भिन्न शिक्षा का वर्णन किया है। यदि एमिली की शिक्षा प्रकृति के अनुसार है तो सोफी की शिक्षा परंपरागत तथा रूढ़िवादी। यह बात भी रूसो के परस्पर-विरोधी बातें कहने की परिचायक है।

यह शिक्षा की भिन्नता लिंग-भेद के कारण है, न कि निहित योग्यता के अनुसार। वह स्त्रियों को आज्ञा मानने तथा पुरुष को विद्रोह करने के लिए उत्पन्न मानते थे। लिखने-पढ़ने की शिक्षा स्त्री को केवल आवश्यकता होने पर ही देनी चाहिए। सिलाई, कढ़ाई, वस्तुओं की परख इत्यादि का ज्ञान देना उसे आवश्यक है। स्त्री को धर्म की शिक्षा देनी चाहिए, जब वह समझने लगे। उसे कम आयु में धार्मिक ज्ञान देना बुरा नहीं किंतु उसे पूर्ण ज्ञान देना चाहिए तथा ऐसा कि वह धर्म से प्रेम करने लगे। स्त्रियाँ भी तत्व ज्ञान तथा तर्कशास्त्र पढ़ सकती हैं, पर वह शीघ्र ही भूल जाती हैं। परंतु वह नैतिक तथा कलात्मक ज्ञान (Aesthetics) की प्राप्ति में अद्भुत होती हैं। इनके अतिरिक्त भौतिक विज्ञान की केवल सामान्य रूपरेखा भर उनको याद रह जाती है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

5. रूसो के शिक्षा दर्शन की विवेचना कीजिए।

2.7 जॉन डीवी (JOHN DEWEY)

परिचय:

शिक्षाविद जॉन डीवी महोदय का जन्म अक्टूबर 1859 में हुआ। स्नातक की परीक्षा में उन्होंने दर्शन में विशेष योग्यता दिखाई। विभिन्न विश्वविद्यालयों में वह दर्शन के शिक्षक रहे। शिकागो में पढ़ाने के काल में उनका ध्यान शिक्षा की ओर गया। इसलिए उन्होंने एक प्रयोगशाला स्कूल (Laboratory School) खोल दिया। इस स्कूल के खोलने में उनका प्रयोजन यह था कि वह दर्शन, मनोविज्ञान व शिक्षा के विषयों का प्रयोगशाला से ठीक ऐसा ही संबंध स्थापित कर दें जैसा कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का प्रयोगशाला से होता है। डीवी को हम मुख्यतया प्रयोजनवादी मानते हैं। यद्यपि उनके दर्शन पर गेल तथा जेम्स दोनों का ही प्रभाव स्पष्ट व्यक्त है। उन्होंने अमेरिका से बाहर भी शिक्षा पर वक्तव्य दिये हैं, विशेष कर चीन में तथा उनका प्रभाव विश्वव्यापी है।

विल ड्यूरान्ट के शब्दों में, वाल्ट व्हाइटमैन की कविता की भाँति, स्वाभाविक रूप से, उनका दर्शन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का है। वैसे स्कूल के सामाजिक पक्ष, प्रजातंत्र के दार्शनिक पक्ष तथा मूल्यों (Values) आदि के क्षेत्रों में उन्होंने महत्वपूर्ण मौलिक विचार प्रकट किए हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- हाउ वी थिंक (1910), डेमोक्रेसी एण्ड एज्यूकेशन (1916), रीकांस्ट्रक्शसन इन फिलासफी (1920) आदि। उनकी अन्य प्रसिद्ध पुस्तकों में से 'दी स्कूल एण्ड दी सोसायटी' तथा 'स्कूलऑफ टुमारो' आदि हैं।

डीवी का दर्शन (Dewey's Philosophy):

डीवी मूल्यों को शाश्वत नहीं मानते। यथार्थ भी इनके लिए परिवर्तनशील है। सत्य वही है जो व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरे। दर्शन सभी ज्ञान की 'शाखाओं का सामान्यीकरण है। डीवी स्पेन्सर की भाँति विकासवाद (Evolution) में विश्वास करते हैं तथा विल ड्यूरान्ट के अनुसार प्रकृतिवादी हैं। वास्तव में 'वैज्ञानिकों तथा प्रयोगशील विद्वानों के वस्तुओं के परिवर्तन संबंधी क्षेत्र तथा अपरिवर्तित शाश्वत 'सत्यों' के दार्शनिक क्षेत्र में एक खाई स्थापित रही आई है। शाश्वत सत्यों से ओतप्रोत स्कूल में प्रयोगात्मक 'सत्य' को स्थान भौतिकवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण मिलना कठिन हो रहा है। डीवी के अनुसार कोई भी सिद्धांत तथा आदर्श शाश्वत सत्य नहीं रह सकता, वह तो केवल जीवन को नियंत्रित तथा नैतिक रखने के लिए प्रेरणा-स्वरूप है। विकास ही नैतिक है तथा वही आदर्श है।

प्रयोगात्मक तर्कशास्त्र (Experimental Logic) ही सबसे उचित है। प्रयोगों के द्वारा ही हम रूढ़ियों के बंधन से मुक्त होकर जीवन के सत्य का दर्शन कर सकते हैं। प्राकृतिक विज्ञान तथा नैतिकशास्त्र की दूरी ही समस्त बुराइयों की जड़ है। कोई भी ज्ञान की शाखा चाहे व रसायनशास्त्र हो या भौतिकशास्त्र, जब वह मनुष्य के दुःखों के कारण की खोज करती है, तब वह नैतिकता का स्रोत हो जाती है।'' दर्शन तो मूल रूप से आलोचना है, आलोचना की आलोचना''।

जीवन की समस्याओं को सुलझाने से उत्पन्न दर्शन एक जीवित वस्तु है। मनुष्य काल तथा स्थान के अनुकूल 'सत्यों' (Truths) की रचना कर सकता है। डीवी केवल ईश्वर(God) को ही शाश्वत मानते हैं।

डीवी का शिक्षादर्शन (Dewey's Philosophy of Education):

शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है, समाज से बाहर समाज के प्रति कर्तव्यों से अलग उसका कोई महत्व नहीं। विद्यालय समाज की नकल स्कूल होना चाहिए, किंतु स्कूल समाज का वह रूप है, जहाँ आकस्मिक परिवर्तन नहीं होते। उसे हम एक विशेष प्रकार का समाज कह सकते हैं। स्कूल द्वारा ही विकास तथा रचनात्मकता दोनों ही बालक में आती हैं। सामाजिक कुशलता (Social Skills) की शिक्षा के लिए स्कूलों का जन्म हुआ है। नैतिक अनुशासन के स्थान पर शारीरिक अनुशासन थोपना अनुचित है।बालक स्वयं को समाज का अंग मानकर अनुशासन भंग नहीं कर सकता।

बालक की प्रवृत्तियों को पहचानकर, मनोविज्ञान की सहायता से उन्हें रचनात्मक कार्य में लगाना चाहिए। वास्तव में "शिक्षा जीवन की क्रिया है, न कि किसी भविष्य के जीवन की तैयारी''। हरबर्ट के विपरीत डीवी रुचि तथा कार्यों को विभिन्न सामाजिक रूपों से ही संबंधित रखना चाहते हैं। हरबर्ट ने केवल बौद्धिक पक्ष पर ही बल दिया था पर डीवी उसके अतिरिक्त शारीरिक, सामाजिक आदि पक्षों पर बल देता है। दूसरी बात यह है कि वह शिक्षा पर कोई पूर्वनिर्धारित, अपरिवर्तनशील सिद्धांत लागू नहीं कर सकता। ''शिक्षा को तो अनुभवों का अनवरत पुनर्निमाण समझना चाहिए''। ''शिक्षा का अपनों से दूर कोई भी महत्व नहीं, वह स्वयं अपना उद्देश्य है''। ''शिक्षा की प्रक्रिया तो सदैव ही पुनः संगठन तथा पुनः निर्माण पर आधारित और परिवर्तनशील है''। ''शिक्षा पर बाहर के उद्देश्यों को थोपने का तात्पर्य होगा कि शिक्षा का बहुत बड़ा अर्थ समाप्त हो जाए''। शिक्षा को संकुचित आदर्शों से मुक्त कराने का श्रेय डीवी को जाता है। चूंकि जीवन में बालक को भाग लेना है अतः उसे ही सक्रिय तथा प्रगतिशील होना चाहिए। परीक्षा इसलिए नहीं लेनी है कि बाहरी अर्जित ज्ञान की सीमा परखनी है, वरन समाज हेतु योग्यता का अनुमान लगाना ही परीक्षा का मूलतः सिद्धांत है।

डीवी के अनुसार शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालक को उचित अवसर दे ताकि वह प्रगति तथा विकास की ओर अग्रसर हो सके। स्कूल वर्तमान जीवन के लिए है, न कि किसी भविष्य के जीवन की तैयारी हेतु। सामाजिक कुशलता का उद्देश्य डीवी ने निर्धारित नहीं किया, वह तो उसके विचार से स्वयं ही पूरा हो जाता है। परंपरागत स्कूल समाज के अंग नहीं हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है स्कूल समाज के हैं तो स्कूल को समाज का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। स्कूल के द्वारा ही बालक को सामाजिक आवश्यकताओं से परिचित कराया जा सकता है। प्रायः बाहरी सूत्रों से प्राप्त सत्य स्कूलों पर लादा जाता रहा है। इन दोनों बातों से डीवी का स्कूल दूर हो गया।

शिक्षा की परिभाषा डीवी के शब्दों में ''शिक्षा उन सब शक्तियों के विकास का नाम है जिनके द्वारा मनुष्य में अपने वातावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी समस्त शक्तियों के विकास का सामर्थ्य उत्पन्न होता हो।'' डीवी के अनुसार शिक्षा प्रक्रिया के दो अंग हैं (1) मनोविज्ञान, (2) समाज। मनोविज्ञान द्वारा डीवी शिक्षा को बालक की अभिरुचियों तथा अंर्तप्रवृत्तियों के अध्ययन में सहायता पहुँचाना मानता है तथा यह भी मानता है कि सामाजिक जीवन की कुशलता ही शिक्षा को प्रेरणा देती है। बालक के बौद्धिक, शारीरिक अथवा अन्य प्रकार के विकास में समाज का ही हाथ रहता है। मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षा समाजोन्मुखी होनी चाहिए। स्कूल एक विशिष्ट समाज है।'' जातीय सामाजिक जीवन में क्रियाशील रहते हुए ही मनुष्य शिक्षा प्राप्त करता है। समाज के अनुरूप ही शिक्षा होनी चाहिए। सामाजिक हितों में भाग लेने के कारण ही बुद्धि का विकास होता है। अनुभव परिवर्तित तथा संशोधित होते रहते हैं तथा अनुभव ही शिक्षा का आधार हैं।

प्रजातंत्र में समाज तथा व्यक्तिगत हितों में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। अतः प्रजातंत्र पर ही आधारित शिक्षा उचित है। आत्मसंयमी, स्वप्रेरित, क्रियाशील प्राणी ही समाज का आदर्श प्राणी है। प्रजातंत्र में इन्हीं गुणों का विकास होता है तथा स्कूलों को इन्हीं गुणों पर चिंतन करना चाहिए।

डीवी का प्रायोगिक स्कूल (Dewey'sLaboratory School):

डीवी के प्रायोगिक स्कूल की स्थापना सन् 1896 में शिकागो में हुई। यहाँ साधारण स्कूलों से भिन्न, विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर व्यावहारिक तथा रचनात्मक पाठ्यक्रम के अनुसार 4 वर्ष से 13 वर्ष तक के बालकों को शिक्षा दी जाती है। (1) यहाँ प्रामाणिक प्रयोगों (Crucial Experiments) द्वारा शिक्षण सिद्धांतों को परखना, तथा (2) ऐसे सिद्धांतों तथा ज्ञान की खोज करना, जिनकी जानकारी अभी तक शिक्षाशास्त्रियों को भी नहीं थी- ये उद्देश्य इस प्रायोगिक स्कूल के थे।

इस स्कूल के सिद्धांतों की खोज तो अवश्य हो सकती है, पर क्या यहाँ रसायनशाला की भाँति शिक्षा के प्रयोग भी संभव हैं? प्रो. चार्ल्स हार्डी इस बात पर विश्वास नहीं करते। शिक्षा का प्रभाव तो जीवन में उतर आने पर ही देखा जा सकता है, इसलिए स्कूल में ही इस प्रकार के प्रयोग संभव नहीं हो पायेंगें। उनका ऐसा मानना था कि डीवी यदि शिक्षा के सिद्धांतों को सिद्ध करने तथा परखने के बजाय केवल खोज पर ही बल देते तो ठीक रहता।

शिक्षा का उद्देश्य (Aims of Education):

पूर्व निर्धारित उद्देश्य डीवी द्वारा मान्य नहीं हो सकते। वर्तमान जीवन में उचित साधनों का उपयोग ही भविष्य के लिए तैयारी है। भविष्य की बात परिवर्तनशील विश्व में पहले से बताई नहीं जा सकती। शिक्षा का उद्देश्य बालक की रुचि के अनुसार सम्यक् विकास है। सामाजिक कुशलता उसकी आधारशिला है। "भोजन तथा संतानोत्पत्ति जिस प्रकार भौतिक-शारीरिक जीवन के लिए है ठीक उसी प्रकार शिक्षा समाज के लिए है।" उपयोगिता पर परखी हुई शक्तियों का विकास ही बालक में होना चाहिए।

पाठ्यक्रम (Curriculum):

परम्परागत विषयों की निर्धारित सीमाएँ भ्रामक हैं। ज्ञान एक है, सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की एकता विषयों की एक्ता में परिलक्षित होनी चाहिए। लचीले पाठ्यक्रम द्वारा ही बालक समाज की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। डॉ. अदावाल ने उदाहरण दिया है कि डीवी के विचार से प्रारंभिक विद्यालय का आधार बालक की चार अभिरुचियाँ (भाव-विनिमय, संवाद, जिज्ञासा, रचना तथा सौंदर्यभिव्यक्ति) ही होनी चाहिए। अत: पाठ्यक्रम में पठन, लेखन, गणना, हस्तकार्य तथा चित्र-कला का समावेश होना चाहिए। शैक्षिक अनुभवों तथा समस्याओं से पाठ्यक्रम पूरा होना चाहिए। बालकों द्वारा पूर्व अर्जित ज्ञान भविष्य के ज्ञानार्जन के लिए आधाररूप होना चाहिए। पाठ्यक्रम बालकों के वर्तमान अनुभवों पर ही निश्चित करना ठीक होगा। विभिन्न विषयों में समन्वय होना चाहिए। मनोविज्ञान के आधार पर विभिन्न विषयों की सूची भ्रामक है।

शिक्षण विधि (Method of Teaching) :

'करके सीखना' (Learning by Doing) पद्धति के अनुसार एक क्रिया का बालक की अभिरुचि के अनुसार तथा उपयोगिता के आधार पर चुनाव होता है, वह क्रिया से संबंधित कुछ विषयों का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। बुनियादी शिक्षा प्रणाली तथा योजना पद्धति (जिसका पहले कोई नाम न था) मूलतः एक ही विचार से प्रेरित है। ये पद्धति बालक में आत्म-विश्वास, आत्मनिर्भरता तथा मौलिकता के विकास में सहायक होती है।

प्रो.चार्ल्स हार्डी के अनुसार योजना पद्धति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

1. जो काम बच्चे को करना है, उसका सुझाव वह स्वयं रखे।
2. उन्हें केवल वही कार्य करने देना चाहिए जिनसे उत्तम चित्तवृत्तियों का निर्माण हो।
3. इन कार्यों की पूर्ति के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता हो, उस ज्ञान को देना चाहिए।
4. बच्चे के समस्त कार्यों में सहायता व पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है जिससे वे आगामी अनुभवों की अभिवृद्धि कर सकें।

अनुशासन (Discipline) :

समाजोन्मुखी शिक्षा में बच्चे के सहयोग तथा स्कूल के कार्यों द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करके हम उसमें आज्ञापालन, अनुशासन, नियम आदि आवश्यक बातों को उसके चरित्र निर्माण का अंग बना सकते हैं। सहयोग तथा रुचि पर आधारित शिक्षा में अनुशासन के भंग होने की आशंका सम्भव नहीं है। बल का प्रयोग अनुशासन की व्यवस्था में अनुचित है। वैयक्तिक पक्ष को वह सामाजिक पक्ष के सन्मुख झुकाकर अनुशासन की समस्या हल कर देता है। प्रजातंत्र में सहयोग, आत्मनिर्भरता, समता इत्यादि की उन्नति होती है। लेविन तथा लिप्पिट (Kurt Lewin and Lippit) के प्रयोगों द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिए ऐसे स्कूलों में जिनमें प्रजातांत्रिक समाज का प्रतिबिम्ब हो, इन गुणों का विकास तथा अनुशासन की स्थापना स्वाभाविक रूप से हो जाती है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

6. डीवी की शिक्षा प्रणाली में प्रयोगात्मक विधि को स्पष्ट कीजिए।

2.8 पाउलो फ्रेरे (PAULO FREIRE)

परिचय:

पाउलो फ्रेरे एक महान चिंतक, दार्शनिक तथा शिक्षक और धार्मिक विचारक के रूप में मानव व्यवहार, समाज की व्यवस्था, आवश्यकता और इसाई धर्म पर अपने विचार व्यक्त किए। वे शिक्षा को व्यक्तित्व विकास का साधन मानते थे। उन्होंने औद्योगिक शिक्षा और विकास पर विशेष बल दिया। उन्होंने सामाजिक विकास के लिए योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता पर बल दिया। उनके अनुसार व्यक्ति साक्षर और शिक्षित होकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अच्छी तरह कर सकता है। फ्रेरे का जीवन दर्शन ईसा मसीह के जीवन दर्शन से प्रभावित था। वे ईसा मसीह के अनुयायी थे तथा मानवतावादी शिक्षा के पक्षधर थे। पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, समाजशास्त्र तथा धार्मिक विषयों को उचित स्थान देने के पक्षधर थे। वे आधुनिक विश्व में साक्षरता कार्यक्रमों के प्रणेता कहे जाते हैं।

फ्रेरे का शिक्षा दर्शन (Freire's Educational Phosophy) :

आधुनिक विश्व में अनेकानेक विषम परिस्थितियों के कारण व्यक्ति अपने स्वार्थ में इतना ग्रसित है कि वह दूसरो को भी क्षति पहुँचाने में थोड़ा भी संकोच नहीं करता। अनेकानेक मानसिक यातनाओं और कुपरिस्थितियों से वह ग्रसित है। सामाजिक प्रगति के बाद भी मानव को आत्मीय-शांति नहीं है। वह स्वनिर्मित वस्तुओं का दास हो गया है। 'सामाजिक न्याय' का विचार(सम्प्रत्यय) विकसित नहीं हो पाया है, जिसके कारण मानवीय दृष्टिकोण संकुचित और एकांगी हो गया है। यही कारण है कि वह अपने तुच्छ स्वार्थ के खातिर दूसरों की आवश्यकताओं को नहीं समझ पाता और अन्यायी हो जाता है। आज हम समाजवाद की बात करते हैं। समाजवाद और पूंजीवाद दोनों की कल्पना आर्थिक मनुष्य की कल्पना है जो अर्थ और काम को एकमात्र पुरुषार्थ मानती है, लेकिन 'आर्थिक मनुष्य एक अमूर्त प्रत्यय है। मानवतावाद अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरूषार्थों को महत्व देकर सम्पूर्ण मानव को इकाई मानकर चलता है। विद्यालयों में छात्रों और अध्यापकों की अनेक समस्याएँ हैं। आये दिन धरना, घेराव, तोड़-फोड़, मार-पीट इत्यादि अभद्रतायें हो रही हैं। इसका कारण मानवतावादी शिक्षा का अभाव है। मानवतावादी शिक्षा द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में सौहार्द,प्रेम, करुणा, प्रसन्नता का संचार होगा और सर्वत्र शांति और भातृत्व होगा।

फ्रेरे ने ठीक ही कहा है कि निरंकुश राज्य और संपन्न लोग नहीं चाहते कि किसान पढ़नेलिखने की प्रक्रिया में उठ खड़े हों। शिक्षा द्वारा उत्पीडितों,दलितों, किसानों, मजदूरों को साक्षर और शिक्षित करना आवश्यक है। मानवतावाद का यही संदेश है। फ्रेरे ने जिस मानवतावाद को अपनाया, वह आज के मजदूर व दलित वर्ग के प्रति प्रेम से परिपूर्ण है।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप मनुष्य मशीन के पुर्जे के समान हो गया जिससे विद्रोह की भावना का संचार हुआ। नगरीकरणऔर औद्योगीकरण के फलस्वरूप मनुष्य का आवाज उठाना व विद्रोह करना ही मानवतावाद कहा जाएगा। मानवतावाद कल्पनाओं में नहीं अपितु बाह्य जगत में अस्तित्ववान है। यह विचारों, शुभाकांक्षाओं एवं सद्भावनाओं से ओतप्रोत है। शिक्षा का यही उद्देश्य होना चाहिए।

पाठ्यक्रम (Curriculum):

फ्रेरे ने पाठ्यक्रम में मौलिक परिवर्तन की बात की है। वे मार्क्स के विचारों की तरफ आकर्षित हुए किंतु मार्क्स के सिद्धांतों को वे आँख मूदकर नहीं स्वीकार कर पाए। मार्क्स की अनेक बातों से फ्रेरे असहमत थे और उन्होंने उनकी आलोचना भी की। मार्क्स से वे प्रेरित हुए और उन्होंने सभी छात्रों को उनके अनुसार सामाजिक अंतर्विरोधों को समझने का परामर्श दिया।

फ्रेरे सात्र, एरिक फ्रॉम, माओ, मार्टिनलूथर किंग के विचारों को पाठ्यक्रम का अंग बनाना चाहते थे। फ्रांज फ्रैनन की पुस्तक 'संसार के अभागे लोग' से वे बहुत प्रभावित थे। गणित इतिहास, भूगोल को पढ़ाना है किंतु प्रायः शिक्षार्थी इनमें फेल हो जाते हैं। इसलिए उनके अनुसार हमें इनको सरल करके पढ़ाना है।

फ्रेरे पाठ्यक्रम को पुर्नगठित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने कहा कि दार्शनिकों, कला शिक्षकों, भौतिक वैज्ञानिकों, गणितज्ञों तथा समाज शास्त्रियों की सहायता की जरूरत है। पाठ्यक्रम को विस्तृत और उपयोगी बनाने के लिए उनकी सहायता कारगर सिद्ध होगी। शिक्षा, कला, नीतिशास्त्र, काम वासना, मानव अधिकार, खेल, सामाजिक वर्ग, भाषा, दार्शनिक विचार-धारा जैसी ज्ञान की शाखाओं पर चर्चा होनी चाहिए जिससे पाठ्यक्रम की पुर्नरचना ठीक से हो सके। पाठ्यचर्या में अल्पसंख्यकों के मूल्यों को भीसामिल करना चाहिए।

सामान्य वर्ग के लिए जो पाठ्यक्रम आवश्यक होता है, संभव है प्रभुत्व संपन्न लोगों के लिए वह हितकारी न हो। पाठ्यक्रम में समाजवाद व साम्यवाद के विचारों को आदरणीय स्थान देना चाहिए। फ्रेरे लोकतंत्र के वास्तविक स्वरूप को पाठ्यक्रम में सामिल करना चाहते हैं, न कि उसके वर्तमान विकृत रूप को।

शिक्षणविधि (Methods of Teaching):

फ्रेरे के अनुसार 'साक्षरता' का कोई अर्थ तभी है जब निरक्षर व्यक्ति दुनिया में अपनी स्थिति, अपने काम और इस दुनिया में बदलाव लाने की अपनी क्षमता को लेकर सोचने लगे। यही चेतना है। उन्हें पता चले कि दुनिया उनकी है, प्रभुत्व संपन्न वर्ग की नहीं।

फ्रेरे के अनुसार शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए जिससे सीखने वाला अपनी जिदंगी के अनुभव से दूर न हो। उसे ऐसा न लगे कि शिक्षा उसकी भाषा संस्कृति और परंपरा का निषेध करती है।

फ्रेरे का सर्वप्रथम शैक्षिक कार्य उनके द्वारा संचालित साक्षरता का कार्यक्रम है। सन् 1968 के आसपास उनकी प्रसिद्ध पुस्तक संसार के समक्ष आई। पुस्तक का नाम है- उत्पीडितोंका शिक्षाशास्त्र (पेडागाजी ऑफ द आप्रेस्ड)। इस पुस्तक में फ्रेरे ने शिक्षा और साक्षरता कार्यक्रमों के बारे में अपने सिद्धांतों को लिखित रूप दिया है।

इस पुस्तक में यह दर्शाया गया है कि हम मानवीय कैसे बन सकते हैं। तीसरी दुनिया को अब गंदी बस्तियों में नहीं रहना है। उन्हें मानव के रूप में रहना है। उन्हें साक्षर व शिक्षित भी होना है लोग दलितों का उत्पीड़न करते हैं। लोगों ने दलितों से सोचने और प्रश्न करने का अधिकार छीन लिया है। जिज्ञासु होने का अधिकार सभी को है न कि केवल संपन्न लोगों को।ब्राजील में वोट देने का अधिकार सोलह वर्ष के किशोर-किशोरी को भी है। मताधिकार की आयु सोलह वर्ष होने से ब्राजील वासियों के लिए साक्षरता का विशेष महत्व हो गया है। निरक्षरता किसी भी देश में जनतंत्र के लिए अभिशाप है। इस प्रकार पाउलो फ्रेरे शिक्षा और साक्षरता आंदोलन के लिए विश्वभर के प्रणेता के रूप में जाने जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इन्होंने क्रांति की लौ को प्रज्वलित किया। वह विश्वभर में साक्षरता मिशन के रूप में सतत और अनवरत चलायमान है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

7. पाउलो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन पर प्रकाश डालिए।

2.9 देकार्ते (DESCARTE)

परिचय:

देकार्ते का जन्म फ्रांस के एक धनी परिवार में हुआ था। इनकी आरंभिक शिक्षादीक्षा एक उत्तम वातावरण में हुई। वे हालैण्ड की सेना में सन्1619 में भर्ती हो गए। 20 सालों तक वे एमस्टरडैम में रहे। सन्1649 में स्वीडन की रानी क्रिसचियाना ने उन्हें ससम्मान अपने पास दर्शनशास्त्र पढ़ाने के लिए बुलवाया। इस दौरान उनकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इस पुस्तक का नाम था - The Passion of the Soul लेकिन स्वीडन का मौसम बहुत ही सर्द था और रानी की आज्ञानुसार उन्हें सुबह 5 बजे उठकर दर्शनशास्त्र पढ़ाना पड़ता था। इसे देकार्ते का शरीर बर्दास्त नहीं कर सका और उन्हें निमोनिया हो गया। फलतः सन्1650 में ही उनका देहांत हो गया।

देकार्ते का दर्शनशास्त्र :

देकार्ते कई विषयों के जानकार थे। प्रसिद्ध इतिहासकारों ने उन्हें एक वैज्ञानिक, दार्शनिक, गणितज्ञ तथा मनोवैज्ञानिक कहा है। इनके योगदानों को निम्नांकित चार भागों में बाँटा जा सकता है-

1. **<u>शरीर के संबंध में उनके विचार</u>** शरीर के कार्यों का वर्णन करने में देकार्ते उस समय के दैहिक उपलब्धियों से पूर्णत अवगत थे। उन्हें मांसपेशियों, स्नायु-तंत्रिकाओं एवं अन्य जैविक संरचनाओं का ज्ञान था। अन्य शरीर शास्त्रियों के कामों से वे यह भलीभाँति जानते थे कि मांसपेशियाँ विरोधी युग्मों (Opposing Pairs) के रूप में कार्य करती हैं तथा संवेदन व गति के लिए तंत्रिकाओं (Nerves) का कार्य महत्वपूर्ण होता है। उसी समय हार्वे द्वारा रक्त संचालन की खोज की गई थी। इन सभी से शरीर एवं शारीरिक क्रियाओं के बारे में उनके विचार काफी प्रभावित हुए।

   उनका मत है कि तंत्रिका एक खोखली नली (Tube) होती है जिसके द्वारा विभिन्न दशाओं में पाशविक प्रवृत्ति पायी जाती है। पाशविक प्रवृत्ति से तात्पर्य गैसीय तत्वों से होता है जो रक्त के आसवन की प्रक्रिया द्वारा तैयार होती है। उन्होंने पाशविक प्रवृत्ति को एक भौतिक तत्व कहा है जो बहुत तेजी से प्रसारित होता है। उन्होंने कहा है कि शरीर को उसकी आत्मा या मन की अनुपस्थिति में देखें तो यह एक मात्र मशीन के समान है। उन्होंने पशुओं को मात्र मशीन के समान विभिन्न तरह की क्रियाएँ करते माना है। चूँकि इसमें आत्मा नहीं होती है अत: वे स्वचालित होते हैं। यदि हम मनुष्य के शरीर से मन या आत्मा को अलग कर दें तो यह भी एक मशीन का ही उदाहरण होगा। देकार्ते के इस यांत्रिक सिद्धांत का शरीर के स्वरूप के बारे में यह निष्कर्ष रहा है कि शरीर से तात्पर्य उन सभी चीजों से होता है जो निर्जीव हैं।
2. **<u>मन या आत्मा के संबंध में उनके विचार</u>**: उनका मत था कि प्रत्येक व्यक्ति में एक मन या आत्मा होती है जो उसके चिंतन को प्रभावित करती है मन को शरीर की यांत्रिक क्रियाओं को निर्देशित करने तथा परिवर्तित करने का अधिकार होता है।

   देकार्ते के अनुसार मन और शरीर दो भिन्न तत्वों के बने होते हैं। शरीर विस्तारित पदार्थ (Extended Matter) का जबकि मन अविस्तारित पदार्थ (Unextended Matter) का बना होता है।
3. **<u>शरीर तथा मन के अंत: क्रिया संबंधी विचार:</u>** देकार्ते का मत था कि यद्यपि मन तथा शरीर दो अलग-अलग तत्वों के बने होते हैं, वे दोनों एक दूसरे से संबंधित हैं। कुछ क्रियाओं जैसेसंवेदन एवं प्रत्यक्षण में दोनों का संयुक्त योगदान होता है। मन शरीर की यांत्रिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है तथा उन्हें निर्देशित करता है तथा प्रत्यक्षण, संवदेन एवं संवेग आदि क्रियाओं द्वारा स्वयं भी प्रभावित होता है। अत: इन दोनों में अंत: क्रिया (Interaction) होती है। अबप्रश्न यह उठता है कि अंत: क्रिया कैसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए देकार्ते ने मस्तिष्क तथा उनके विभिन्न संरचनाओं का अवलोकन किया। इस अवलोकन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मस्तिष्क की एक संरचना ऐसी है जो अकेली है और उसका कोई द्वैत(Duplicate) नहीं है। यह संरचना पीनियल ग्रंथि (Pineal Gland) थी जो मस्तिष्क के बीच में थी। देकार्ते के अनुसार मन तथा शरीर के बीच अंतक्रिया का केन्द्र बिंदु यही पीनियल ग्रंन्थि होती है। इस अंत:क्रिया की प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है- किसी व्यक्ति के दृष्टि संवेदन होने के लिए आवश्यक है कि आँख में बनने वाली प्रतिमाओं द्वारा पाशविक प्रवृत्ति की उत्पत्ति हो जो मस्तिष्क के पीनियल ग्रंथि को उत्तेजित करती है तथा जिसके कारण आँख देखने की प्रक्रिया कर पाती है। इसके विपरीत

कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका संचालन ठीक इनके विपरीत दिशा में होता है। जैसेमान लिया जाए कि मन किसी घटना, वस्तु या व्यक्ति को याद करना चाहता है। यह इच्छा पीनियल ग्रंथि को उत्तेजित करती है जो मस्तिष्क के छिद्रों (Pores) में पाशविक प्रवृत्ति उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति या घटना या वस्तु के चिन्हों की खोज की जाती है।

4. **<u>जन्मजात विचार का सिद्धांत</u>**: देकार्ते के अनुसार मन की क्रियाओं द्वारा दो प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं - अर्जित विचार तथा जन्मजात विचार। अर्जित विचार संवेदी अनुभूतियों से प्राप्तहोते हैं। जहाँ तक जन्मजात विचार का प्रश्न है, इनका संबंध किसी संवेदी अनुभूति से नहीं होता है फिर भी मन में इस विश्वास के साथ उत्पन्न होते हैं कि व्यक्ति उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। आत्मन (Self) तथा ईश्वर (God) से संबंधित विचार जन्मजात विचार के उत्तम उदाहरण हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए!

8. देकार्ते के दर्शन को स्पष्ट कीजिए!

2.10 स्पाइनोजा (SPINOZA)

बेनेडिक्ट स्पाइनोजा देकार्ते के समकालीन थे और उन्होंने अपने जीवन काल में कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। शिक्षा के दृष्टिकोण से इनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान इस तथ्य पर बल डालना रहा है कि व्यक्ति ईश्वर का ही एक विशेष पहलू होता है। उन्होंने मन तथा शरीर में एक विचित्र संबंध की बात कही। उनका मत था कि मन तथा शरीर को एक दूसरे से अलग किया जा सकता है। ये दोनों एक ही तरह के तत्व के दो पहलू हैं। चूँकि ये दोनों एक ही तत्व् के दो पहलू हैं इस लिए शारीरिक क्रियाएँ, मानसिक क्रियाओं को उत्पन्न नहीं करती हैं और न ही मानसिक क्रियाएँ शारीरिक क्रियाओं को उत्पन्न करती हैं। मन तथा शरीर के बीच इस अनोखे तरह के संबंध को मनोवैज्ञानिक द्विकपहलूवाद (Psychological double-aspectism) कहा गया। स्पाइनोजा ने इसके समर्थन में यह दलील दी कि अगर मस्तिष्क को लम्बवत (Vertically) तथा समतलीय (Horizontally) रूप से काटा जाए तो प्रत्येक भाग थोड़ा अनोखा अवश्य दिखेगा परंतु वे सभी भाग एक ही तत्व अर्थात मस्तिष्क ही होंगे। अतः स्पाइनोजा के अनुसार आत्मा (Soul) या मन एक दृष्टिकोण से देखी गयी तथा शरीर या पदार्थ (Matter) दूसरे दृष्टिकोण से देखा गया एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

स्पाइनोजा द्वारा दिये गये योगदान के आलोक में हम जिस सामान्य तथ्य पर पहुँचते हैं वह यह है कि इनके द्वारा मन तथा शरीर दोनों के अस्तित्व को स्वीकार्य किया गया है। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका दृष्टिकोण द्वैतवादी (Dualistic) था। स्पाइनोजा के द्विक-पहलूवाद (Double-aspecttheory) का सीधा प्रभाव आधुनिक सम्प्रदायों जैसे- संरचनावादियों (Structuralists) और प्रकार्यवादियों (Functionalists) पर पड़ा जिसके कारण स्पाइनोजा ने मन-शरीर समस्या पर अपने विचारों को अधिक स्पष्टता के साथप्रस्तुत किया।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

9, स्पिनोजा के दर्शन को स्पष्ट कीजिए ।

2.11 **इमैनुएल काँट** (IMMANUEL KANT)

परिचय:

इमैनुएल काँट का जन्म सन्1724 में जर्मनी के कोनिग्सबर्ग नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता मोची थे और घोड़ों के जीनसाजी का कार्य करते थे और माता साधारण गृहणी थी। ये दोनों धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। ऐसे धर्म प्रधान परिवार में काँट का लालन-पालन हुआ। काण्ट की शिक्षा अपने ही नगर के एक सामान्य स्कूल में शुरू हुई। इन्होंनेउच्च शिक्षा कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय में प्राप्त की।

इमैनुएल काँट एक महान गणितज्ञ, वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा शिक्षाविद के रूप में जाने जाते हैं। इनका दार्शनिक चिंतन गणितीय तर्क और वैज्ञानिक विधि पर आधारित है। इनके अनुसार शिक्षा वह है जो मनुष्य को भौतिक जगत को समझने में सहायता करे और साथ ही उसमें धर्म के प्रति आस्था और ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न करे। शारीरिक, मानसिक, वस्तु जगत का ज्ञान, धर्म के प्रति आस्था, नैतिक गुणों का विकास आदि शिक्षा के उद्देश्य हैं। उन्होंने शिक्षा की पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, विज्ञान एवं तकनीकी विषयों को प्रमुख स्थान दिया है। बौद्धिक तर्क और इन्द्रियानुभव को प्रमुख शिक्षण विधि माना है। शाश्वत नैतिक नियमों के पालन को सच्चा अनुशासन माना है। शिक्षक को अध्ययनशील एवं चिंतनशील होना चाहिए। मनुष्यों को व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए विद्यालयों की आवश्यकता पर बल दिया है। कांट सभी प्रकार की शिक्षा के पक्षधर थे। उनके अनुसार धर्म आस्था का विषय है।

काँट का शैक्षिक दर्शन (Educational Thoughts of Kant) :

काँट ने शिक्षा पर स्वतंत्र रूप से कोई विचार व्यक्त नहीं किए हैं पर इनके दार्शनिक चिंतन की तत्व मीमांसा ज्ञान मीमांसा और आचार मीमांसा से शिक्षा संबंधी अर्थ निकाले जा सकते हैं।काँट गणितज्ञ एवं वैज्ञानिक पहले थे, दार्शनिक बाद में। इनके अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो व्यक्ति को भौतिक जगत को समझने में सहायता करे और साथ ही उसमें धर्म के प्रति आस्था और ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न करे।

काँट एक तरफ मनुष्य को भौतिक जगत का ज्ञान कराना चाहते थे और दूसरी तरफ उसे सत्संकल्पी जीव बनाना चाहते थे। ज्ञान प्राप्ति के संबंध में इनका मत था कि सच्चा ज्ञान इन्द्रियानुभवों को बौद्धिक प्रत्ययों की कसौटी पर घिसकर प्राप्त किया जा सकता है और ये दोनों कार्य मानव अपने मस्तिष्क के द्वारा कर सकता है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims ofEducation) :

काँट के अनुसार मनुष्य शरीर एवं मन का योग है। अतः सर्वप्रथम उसके शरीर काउचित विकास होना आवश्यक है।काँट ने स्पष्ट किया कि मनुष्य जो कुछ भी इन्द्रियानुसार करता है उसके वास्तविक स्वरूप को तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। अतः उसकी मानसिक शक्तियों का विकास होना आवश्यक है।चूंकि काँट मनुष्य के जीवन के लिए वस्तु जगत का ज्ञान आवश्यक मानते थे इसलिए इनकी दृष्टि से शिक्षा का एक उद्देश्य वस्तु जगत का ज्ञान भी होना चाहिए। काँट धर्म को आस्था और ईश्वर को विश्वास का विषय मानते थे और यह मानते थे कि धर्म मनुष्य को नैतिक जीवन की ओर अग्रसर करता है। अत: इनकी दृष्टि से शिक्षा का एक उद्देश्य धर्म के प्रति आस्था और ईश्वर के प्रति विश्वास उत्पन्न करना होना चाहिए।

काँट शाश्वत नैतिक नियमों में विश्वास करते थे। वे कर्तव्य को व्यक्ति से ऊपर मानते थे। इसलिए इनकी दृष्टि से शिक्षा का एक उद्देश्य मनुष्य में नैतिक गुणों का विकास करना होना चाहिए।

पाठ्यक्रम (Curriculum):

काँट विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। वे ज्ञान की कई शाखाओं के ज्ञाता थे और उन विषयों पर व्याख्यान देते थे। ईश्वर में विश्वास करते थे और धर्म में उनकी गहरी आस्था थी। उनकी दृष्टि से किसी भी देश की शिक्षा की पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, विज्ञान एवं तकनीकी को स्थान देना चाहिए। धर्म को वे आस्था का विषय मानते थे इसलिए इसे विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या में स्थान देने को आवश्यक नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि से धर्म सीखने का विषय नहीं बल्कि आस्था का विषय है।

शिक्षण विधि (Method of Teaching) :

काँट ने सबसे अधिक बल ज्ञान के स्वरूप और उसको प्राप्त करने की विधियों पर ही दिया है। ज्ञान को काँट ने दो भागों में विभाजित किया है- व्यावहारिक (भौतिक) ज्ञान और आत्मिक (आध्यात्मिक) ज्ञान। भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के संबंध में काँट का मत है कि यह ज्ञान तो केवल इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, न कि बुद्धि द्वारा। परन्तु वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियानुभव को बुद्धि द्वारा तर्क की कसौटी पर कसा जाना आवश्यक है। इन्होंने इन्द्रियानुभव के लिए मस्तिष्क की चार शक्तियों का क्रियाशील होना आवश्यक माना है। ये चार शक्तियाँ हैं: संवेदनशीलता, बुद्धि, भावना और संकल्पशक्ति। इससे शिक्षण विधि के विषय में निम्नलिखित अर्थ निकलते हैं:

1. सीखने के लिए मस्तिष्क एवं इन्द्रियों को क्रियाशील किया जाए।
2. इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण किया जाए।
3. इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसा जाए।
4. तर्क के आधार पर प्राप्त परिणामों की सत्यता की जाँच की जाए।

अनुशासन (Discipline) **:**

काँट शाश्वत नैतिक नियमों में विश्वास करते थे और इन शाश्वत नैतिक नियमों के पालन को ही अनुशासन मानते थे। उनका तर्क था कि ईश्वर में विश्वास और धर्म में आस्था रखने वाले व्यक्ति ही शाश्वत नैतिक नियमों का पालन कर सकते हैं। इसलिए वे धर्म के प्रति आस्था एवं ईश्वर में विश्वास को अनुशासन का आधार मानते थे। काँट एक अध्ययन शील शिक्षक और चिंतनशील व्यक्ति थे जो सादा जीवन जीते थे। वे शिक्षकों को इसी रूप में देखना चाहते थे।

काँट किसी भी प्रकार की दासता को अनैतिक मानते थे। वे लोकतंत्र के समर्थक थे। उनकी दृष्टि से विद्यार्थियों को हर प्रकार की स्वतंत्रता जैसे-अध्ययन क्षेत्र का चयन, इन्द्रियानुभव, तर्क और निर्णय करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, तभी वे वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

10. काँट के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

2.12 सारांश :

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों-शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों, विद्यालय प्रबंध, शिक्षक, अनुशासन आदि अनेक क्षेत्रों का प्लेटो, अरस्तू, फ्रोबेल, रूसो डीवी, माण्टेसरी, पाउलो फ्रेरे, देकार्ते, स्पिनोजा, इमैनुएल काँट जैसे पाश्चात्य दर्शनशास्त्री या विचारकों ने अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है। इस तरह उपर्युक्त सभी विचारकों ने शिक्षा के क्षेत्र में अपने योगदान से मानव जगत को आलोकित किया है।

2.13 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

प्रश्न क्र. 1 के लिए अध्याय 2.2 देखें।
प्रश्न क्र. 2 के लिए अध्याय 2.3 देखें।
प्रश्न क्र. 3 के लिए अध्याय 2.4 देखें।
प्रश्न क्र. 4 के लिए अध्याय 2.5 देखें।
प्रश्न क्र. 5 के लिए अध्याय 2.6 देखें।
प्रश्न क्र. 6 के लिए अध्याय 2.7 देखें।
प्रश्न क्र. 7 के लिए अध्याय 2.8 देखें।
प्रश्न क्र. 8 के लिए अध्याय 2.9 देखें।
प्रश्न क्र. 9 के लिए अध्याय 2.10 देखें।
प्रश्न क्र. 10 के लिए अध्याय 2.11 देखें।

2.14 शब्दावली:

परीक्षामूर्त परीक्षा

अंतर्द्वंद
अधिगम
अस्तित्ववाद
आदर्शवाद
आचरण
उत्पीड़न
उपागम
उदाहरण
कारक
कुण्ठा
केन्द्रित पाठ्यक्रम
ज्ञान
परिकल्पना
पाठ्यक्रम
पाठ्यसामग्री
प्रकृतिवाद
प्रयोजनवाद
प्रशिक्षण
मूल्य शिक्षा
व्यक्तित्व
व्यवहारवाद
शिक्षण
समान अवसर
साक्षरता
सृजनात्मकता

2.14 संदर्भ पुस्तकें

1. रामशकल पाण्डेय, शिक्षा-दर्शन, अग्रवाल पब्लीकेशंस, आगरा
2. चाँद किरण, शिक्षा: दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
3. रमेश उपाध्याय (अनुवादक): उत्पीि डतों का शिक्षाशास्त्रपाओले फ्रेरे, ग्रन्थशिल्पी, नई दिल्ली
4. आर. पी. पाठक, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत, डार्लिंग किंडरस्ले (इंडिया) प्रा. लि.
5. हरिवंश तरूण, मानक शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक समाजशास्त्र
6. आर.पी. पाठक: भारत के महान शिक्षा शास्त्री, पीअरसन, नई दिल्ली।
7. आत्मानंद मिश्र, 'भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक', अग्रवाल एंडसंस, इलाहाबाद।

इकाई - 3

भारतीय परंपरा में शिक्षा विषयक विचार

3.0 शिक्षण उद्देश्य
3.1 इकाई परिचय

3.2 न्याय दर्शन

3.3 वैशेषिक दर्शन

3.4 सांख्य दर्शन

3.5 योग दर्शन

3.6 मीमांसा दर्शन

3.7 वेदांत दर्शन

3.8 जैन दर्शन और शिक्षा

3.9 बौद्ध दर्शन और शिक्षा

3.10 महात्मा गांधी

3.11 रवीन्द्र नाथ टैगोर

3.12 स्वामी विवेकानंद

3.13 जिद्दू कृष्णमूर्ति

3.14 श्री अरविंद

3.15 गिजूभाई

3.16 सारांश

3.17 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

3.18 शब्दावली

3.19 संदर्भ पुस्तकें

3.0 शिक्षण उद्देश्य :

1. प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य छात्राध्यापकों को भारतीय दार्शनिक परंपरा के अनुसार शिक्षा के विविध आयामों से परिचित कराना।
2. छात्राध्यापकों को शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय विचारकों के योगदान से परिचित कराना।

3.1 इकाई परिचय :

प्रस्तुत इकाई में शिक्षा संबंधी अवधारणाओं को निम्नलिखित भारतीय दर्शनों के अनुसार समझने का प्रयास किया गया है:

न्याय दर्शन
वैशेषिक दर्शन
सांख्य
योग दर्शन
मीमांसा दर्शन
वेदांत दर्शन
जैन दर्शन
बौद्ध दर्शन

प्रस्तुत इकाई में उपर्युक्त भारतीय दर्शन के अतिरिक्त भारत के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध विचारकों के शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में योगदान पर प्रकाश डाला गया है:

महात्मा गाँधी, रवींद्रनाथ टेगोर, स्वामी विवेकानंद, जिद्दू कृष्णमूर्ति, श्री अरविन्द और गिजु भाई।

प्राचीन भारतीय दर्शन एवं शिक्षा

भारतीय दर्शन की शिक्षा संबंधी अवधारणायें अपनी-अपनी तत्वमीमांसीय अवधारणाओं पर आधारित कही जा सकती हैं।ये दर्शन ईश्वर, ब्रह्म, आध्यात्म, आत्मा आदि संप्रत्ययों में विश्वास व्यक्त करते हैं। उनकी शिक्षा का उद्देश्य प्रायः उपर्युक्त की जानकारी तथा विशेष रूप से ब्रह्म साक्षात्कार एवं मोक्ष-प्राप्ति है।

भारतीय दर्शन की शिक्षा संबंधी अवधारणाओं को निम्न दर्शनों के अंतर्गत समझने का प्रयास किया जा सकता है-

- न्याय दर्शन
- वैशेषिक दर्शन
- सांख्य योग दर्शन
- वेदांत दर्शन
- चार्वाक दर्शन
- जैन दर्शन
- बौद्ध दर्शन

3.2 न्याय दर्शन

न्याय दर्शन वस्तुत: ज्ञान प्राप्ति की तर्कयुक्त समीक्षात्मक प्रणाली है। 'युक्ति-युक्त विचार करना तथा आलोचनात्मक दृष्टि से सोचना' इसकी दार्शनिक प्रक्रिया की विशेषता है। 'न्यायशास्त्र'आत्मा के दर्शन या ज्ञान का एक सशक्त उपागम है। तर्क या प्रमाण प्रस्तुत करने की विद्या ही न्याय है। वात्स्यायन ने न्याय सूत्र पर भाष्य लिखा है जिसमें न्याय का तात्पर्य 'अर्थ या वस्तु-तत्व' की परीक्षा बताया गया है -

न्याय से तात्पर्य ऐसे तर्क-युक्त साधनों से है, जिनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है। अत: इसे तर्कशास्त्र या वादशास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। न्याय दर्शन को 'हेतु विद्या' कहा जाता है।ललित विस्तर ने न्याय-शास्त्र का वर्णन 'हेतु विद्या' नाम से किया है। न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे, जो अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इसी कारण न्याय-दर्शन को 'अक्षपाद दर्शन' भी कहा जाता है। इसे 'आन्वीक्षिकी' भी कहा गया है।

न्याय-दर्शन तार्किक यथार्थवादी (यथार्थ जो तर्क पर आधारित हो) है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि न्याय-दर्शन के अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं है। वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र रहता है। मानसिक भावों यथा-हर्ष, विषाद, भय, क्रोध, आदि का अस्तित्व मन पर निर्भर करता है। जब तक मन उनकी अनुभूति नहीं कर लेता, तब तक उनका कोई अस्तित्व नहीं होता, परंतु मेज, कलम आदि बाह्यपदार्थों का अस्तित्व हमारे मन पर निर्भर नहीं हैं। हमें उनके बारे में कोई ज्ञान न हो तब भी उनका अस्तित्व रहेगा। अतः न्याय-दर्शन के प्रमुख विषय 'ज्ञान', 'ज्ञान-प्राप्ति के साधन', 'ज्ञान-प्रक्रिया' एवं संज्ञान आदि हैं। इस दृष्टि से न्याय-दर्शन का शैक्षिक योगदान 'शिक्षण-प्रक्रिया' के अंतर्गत हो सकता है।

शिक्षा का अभिप्राय:

न्याय-दर्शन में शिक्षा का अभिप्राय तर्क पर आधारित 'विद्या और ज्ञान' से है। न्याय शब्द का अर्थ है- 'नीयते अनेन इति न्यायः' अर्थात् वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क एक निष्कर्ष तक पहुँचसके। इस प्रकार न्याय ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम ने 'इन्द्रियजन्य ज्ञान' पर बल दिया है। इन्द्रियजन्य ज्ञान बिना मस्तिष्क के संभव नहीं होता है। 'शिक्षा और सीखना' इंद्रियजन्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है।

न्याय-दर्शन के अनुसार शिक्षा का एक अन्य अभिप्राय भी है - 'आन्वीक्षिकी' अर्थात् 'तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसंधान करना।' इस प्रकार शिक्षा विद्या अथवा ज्ञान तक सीमित न रहकर एक सीढ़ी और ऊपर उठते हुए अनुसंधान का पर्याय बन जाती है।

शिक्षा के उद्देश्य:

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार यद्यपि "आन्वीक्षिकी विद्या का प्रयोग आध्यात्म विषयक समस्याओं की तार्किक समीक्षा के लिए हुआ है जिससे भ्रम रहित एवं निश्चित आध्यात्मिक ज्ञान तार्किक युक्तियों के द्वारा उपलब्ध किया जा सके" तथापि, इस परिप्रेक्ष्य में न्याय-दर्शन के निम्न उद्देश्य हो सकते हैं-

- यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति
- तार्किक शक्ति का विकास
- मोक्ष प्राप्ति

शिक्षा की पाठ्यचर्या:

न्याय-दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान के लौकिक और अलौकिक दो पक्ष बताए गए हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि न्याय-दर्शन के अनुसार शिक्षा की पाठ्यचर्या में लौकिक एवं आध्यात्मिक या अलौकिक विषय होने चाहिए। लौकिक विषयों में भाषा, साहित्य और व्याकरण, मानवीय एवं प्राकृतिक विषय रखे जा सकते हैं। इनका दृश्य जगत् से संबंध है। न्यायदर्शन में तर्क शास्त्र को शिक्षा की पाठ्यचर्या का प्रमुख विषय माना गया है। तर्कशास्त्र को लौकिक ज्ञान का विषय कहा जा सकता है।

अलौकिक ज्ञान के अंतर्गत दर्शनशास्त्र, आध्यात्मशास्त्र एवं आत्मानुभूति तथा अन्तर्ज्ञान की क्रियाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं। ईश्वर'प्रामाण्य' का विषय न्याय-दर्शन में 'मिति' के नाम से प्रख्यात है।

शिक्षण-प्रक्रिया:

न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान -प्राप्ति की प्रक्रिया में चार तत्व होते हैं

- प्रमेय
- प्रमाण
- प्रमाता
- प्रमिति

ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखने वाले जिज्ञासु अथवा शिक्षार्थी को प्रमाता कहते हैं। जिस विषय का अध्ययन करना है, उसे प्रमेय अर्थात् ज्ञेय कहा जाता है। जिसके माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। 'प्रमिति' उस यथार्थ-ज्ञान को कहते हैं जो निश्चित तथा त्रुटि रहित होता है। पदार्थों का स्पष्ट प्रस्तुतीकरण ही ज्ञान कहलाता है। प्रमाण-शास्त्र न केवल पदार्थों का यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है, अपितु ज्ञान की वैधता का परीक्षण करने में भी सहायक होता है। जब कभी मन में पदार्थ की 'यथार्थता' का ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा होती है, तो हमें तार्किक आलोचना के लिए एक विषय मिलता है। यथार्थ के अन्वेषण का कार्य मानवीय क्रियाकलापों में पहले से ही विद्यमान रहता है।तर्कशास्त्र के माध्यम से यथार्थ की जानकारी अधिक सुसंगत तथा प्रभावोत्पादक रूप में प्राप्त होती है। न्याय दर्शन के अनुसार हम कभी कोरे मस्तिष्क से आरंभ नहीं करते। अपने निजी अनुभव तथा संस्कारों एवं परंपराओं के आधार पर संसार के विषय में ज्ञान हमारे कोश में पहले से विद्यमान रहता है। विज्ञान की आगमनात्मक प्रणाली द्वारा हम अंतर्निहित ज्ञान का अनावरण मात्र करते हैं। न्याय नवीन ज्ञान प्रदान नहीं करता, अपितु उन भिन्न-भिन्न उपायों का वर्गीकरण करता है, जिनके द्वारा हमें पदार्थ संबंधी यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

शिक्षक एवं छात्र-संकल्पना:

न्याय-दर्शन के अनुसार छात्र जिज्ञासु, सुकर्म करने वाला एवं सद्ज्ञान तथा सच्चरित्र से युक्त होता है। वह आत्मानुशासित एवं आचार्य के उपदेशों का अभ्यास करने वाला होता है। राग द्वेष एवं मोह से रहित होकर विद्याभ्यास के तप में प्रवृत्त होता है। ज्ञान ग्रहण करके उसका अभ्यास एवं मनन करना विद्यार्थी का कर्म एवं धर्म दोनों है।

आचार्य अर्थात् वह व्यक्ति जिसके आदर्श आचरण को विद्यार्थी भी धारण करें वह स्वयमेव तपस्वी एवं ब्रह्मचारी हो तथा सांसारिक मोह-माया से मुक्त हो कर ज्ञान-प्राप्त एवं प्रदान करे। वह पूर्णरूपेण अनुशासित हो मन, आत्मा एवं बुद्धि से शुद्ध हो और उन पर उसका नियंत्रण भी हो।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

1. न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में विभिन्न तत्वोंकी विवेचना कीजिए।

3.3 वैशेषिक दर्शन

महर्षि कणाद कश्यप द्वारा प्रस्तुत वैशेषिक दर्शन भारतीय षड्दर्शनों में से एक दर्शन है, जिसकी महत्ता अनेक विचारकों ने प्रतिपादित की है-"वैशेषिक किमपि दर्शनमद्भुतं (सुभाषितरत्न- भाण्डागरम्)।

यह दर्शन अधिक यथार्थवादी और क्रमबद्ध है। इस दर्शन का मूल तत्व है कि मनुष्य वास्तविक तत्वों के ज्ञान से स्थायी कल्याण प्राप्त कर सकता है। वैशेषिक दर्शन में वस्तु की प्रकृति (धर्म) सधर्मता, विषयधर्मता, समानता, असमानता को सार रूप में सूत्रों के माध्यम से प्रकट किया गया है।

वैशेषिक दर्शन पदार्थों के ज्ञान से ही निःश्रेयस् अर्थात मोक्ष की प्राप्ति का संकेत करता है। अतः कहा जा सकता है कि यह दर्शन पदार्थवादी व यथार्थवादी है जिसमें ईश्वर, परमात्मा, आत्मा आदि को मूलतत्व न मानकर पदार्थ को मूलतत्व शाश्वत, अनश्वर तथा संपूर्ण माना गया है।

शिक्षा का तात्पर्य:

वैशेषिक सूत्रों में शिक्षा का तात्पर्य पदार्थों के जानने-समझने से तथा उस ज्ञान से जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने से है। वैशेषिक सूत्रों में नौ द्रव्यों में मन और आत्मा को भी सम्मिलित किया गया है। (इनका संबंध बुद्धि अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, द्वेष, स्नेह अर्थात अनुभूति, प्रयत्न, संस्कार, धर्म, अधर्म,आचरण, व्यवहार क्रियासे बताया गया है।) इस प्रकार शिक्षा का तात्पर्य मन और आत्मा जैसे पदार्थों के माध्यम से ज्ञान, अनुभूति एवं क्रिया करना सीखना-सिखाना है।

अतः वैशेषिक दर्शन के अनुसार शिक्षानिर्मल ज्ञान' और अनुभव उपलब्ध करने का प्रयत्न है, जो शुद्ध बुद्धि, मन और आत्मा के द्वारा संभव है।

शिक्षा के उद्देश्य:

वैशेषिक दर्शन 'प्रमेय' या प्रमाणित की जाने वाली वस्तु का विवेचन करता है। वैशेषिक दर्शनमें शिक्षा के उद्देश्यों को निम्न रूप में देखा जा सकता है-

- सदसत् का ज्ञान देना-वस्तुओं के सत् और असत् या अस्तित्वऔर अनस्तित्व की जानकारी प्राप्त करना और तदनुकूल जगत के कार्य व्यापार को सम्पन्न करना शिक्षा का प्रथम उद्देश्य कहा जा सकता है।
- मोक्ष की प्राप्ति- वैशेषिक दर्शन में तत्वज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना गया है।:
- सद्व्यावहारिक जीवन की क्षमता प्रदान करना-वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशुद्ध आचारण, संध्यवंदन, शास्त्राभ्यास आदि सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहनेसे मनुष्य वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।
- आत्मा का ज्ञान- वैशेषिक दर्शन में आत्मा एक द्रव्य पदार्थ है परन्तु उसमें चेतना होती है और उसका संबंध जीव के मन एवं इंद्रियों से होता है। इस संबंध के कारण ही अनुभव होता है। आत्मा में 9 विशेष और 5 सामान्य गुण होते हैं, जिनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना तथा कराना वैशेषिक दर्शन की शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य कहा जा सकता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या:

वैशेषिक दर्शन की विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, भाषा, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र और विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ पाठ्यचर्या में सम्मिलित की जा सकती हैं।

शिक्षण विधि:

वैशेषिक दर्शन की शिक्षण शैली प्रमुखतः सूत्रात्मक हैतथापि विश्लेषण एवं संश्लेषण विधि, प्रत्यक्ष विधि, मौखिक विधि आदि प्रमुख शिक्षण-विधियों के रूप में देखी जा सकती है। व्याख्या-विधि का आधार वैशेषिक दर्शन का प्रथम सूत्र है ''अथातो धर्म व्याख्यास्यामः'' अर्थात् अब हम धर्म की व्याख्या करते हैं।

जिज्ञासा को इनके मूल रूप में देखा जा सकता है। अध्यापक व छात्र संबंधों के बारे में, संकेत रूप में जो कुछ भी प्राप्त होता है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि गुरू के उपदेश को ग्रहण करना, ज्ञान की खोज में लगे रहना, ज्ञान प्राप्त करना और दुःखों से मुक्त होना विद्यार्थी का लक्ष्य रहता था। गुरू या ऋषि संपर्क का स्थान विद्यालय था जहाँ एक विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान किया जाता था जो 'वैशेषिक' कहलाया। इस प्रकार विद्यालय को विद्या का केंद्र माना जा सकता है।

अपनीप्रगति की जाँच कीजिए

2. वैशेषिक दर्शनके अनुसार शिक्षा की विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।

3.4 सांख्य दर्शन

सांख्यदर्शन प्राचीन भारतीय अष्टांग में सबसे प्राचीन शाखा मानी जाती है। सांख्य-दर्शन में सृष्टिकर्ता ईश्वर की अपेक्षा प्रकृति अथवा सृष्टि को ही स्वयं एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है जो पुरुष अर्थात् आत्मा के चैतन्य प्रकाश द्वारा सृष्टि की रचना करती है। अतः यह 'द्वैतवादी' दर्शन है। सांख्य-दर्शन में आत्मा को किसी सर्वात्मा अथवा ब्रह्मका अंश नहीं माना जाता अपितु सभी आत्माओं का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। सांख्य-दर्शन द्वैत-दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है क्योंकि उसमें दो स्वतंत्र सत्ताओं को स्वीकार किया गया है- प्रथम पुरुष तथा द्वितीय प्रकृति। प्रकृति ही संसार का आदि (प्रारंभिक) कारण है। सत्व, रजस् तथा तमस् इसके तीन गुण हैं।

शिक्षा का तात्पर्य:

सांख्यसूत्रों को छः अध्यायों में बाँटा गया है। प्रकृति पुरुष एवं अन्य तत्वों का विवेचन, स्पष्टीकरण एवं बोध ही शिक्षा है। सांख्य-दर्शन में पुरुष या आत्मा का बोध होता है। इसी आत्म-बोध को हम शिक्षा मान सकते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार शिक्षा-

- प्रकृति या जगत् को जानने की क्रिया है।
- आत्मीकरण की प्रक्रिया है। यह आत्मीकरण 'वैयक्तिक एवं सामाजिक' दोनों रूपों में होता है।
- संस्कार-निर्माण (संस्कृतिकरण) की प्रक्रिया है। संस्कार को 'प्रमा' और 'वृत्ति' के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

शिक्षा के उद्देश्य-सांख्य दर्शन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यो को दो रूपों में देखा जा सकता है-

- ❖ पारमार्थिक
- ❖ लौकिक

अन्य सभी भारतीय दर्शन के समान सांख्य दर्शन में भी शिक्षा का पारमार्थिक उद्देश्य दुःखों सेनिवृत्ति व मुक्ति की प्राप्ति है।

सांख्य दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अथवा उसका लघुरूप शरीर तीन तत्वों से निर्मित है। सत्, रज एवं तम - ये तीनों तत्व ही क्रमशः सुख, दुःख तथा उदासीनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। सत्, रज एवं तम युक्त सभी अनुभव वातावरण-जनित हैं तथा इस शरीर को प्रभावित करते हैं। आत्मा इन सबसे अलग रहती है, परंतु अहंकार-भाव के कारण जागृत दुःखों को हम आत्मा का दुःख मानने लगते हैं। आत्मा और जड़ प्रकृति को पृथक् न समझकर हम प्रकृति को ही आत्मा मानने लगते हैं, फलतः दुःखों का अनुभव करते हैं। इन दुःखों से छुटकारा पाना ही मुक्ति है औरशिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान प्रदान करना है।

लौकिक दृष्टि से उद्देश्यों का निर्धारण प्रकृति तथा उसके तत्वों के विकास के संदर्भ में किया जा सकता है। बालक का शरीर ज्ञानेंद्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की संरचना है। उसके शारीरिक विकास के अंतर्गत उसकी कर्मेन्द्रियां सक्षम तथा क्रियाशील होनी चाहिए। शिक्षा द्वारा उन्हें अकर्मण्यता के भार से मुक्त करना आवश्यक है।

बौद्धिक विकास ही मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता है। इसी कारण से मनुष्य स्वतंत्र निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त करता है। अतः बच्चे के बौद्धिक विकास को भी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या:

सांख्य दर्शन के अनुसार पाठ्यचर्या विकास की अवस्थाओं के अनुरूप होनी चाहिए। शैशवावस्था में इंद्रियानुभव एवं शारीरिक क्रियाओं, बाल्यावास्था में बौद्धिक एवं मानसिक क्रियाओं तथा 'स्व-प्रयत्न' की अनुभूति होती है। किशोरावास्था या पूर्व युवावास्था में विवेचनात्मक विषयों का प्रावधान होना चाहिए। इसके बाद अन्य अवस्थाओं में 'विवेक' का क्रमशः विकास होना चाहिए। व्यावहारिक क्रियाओं से यह संभव किया जा सकता है। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन के अनुसार पाठ्यक्रम मनोवैज्ञानिक आधार पर बनाया गया है। सांख्य दर्शन में शिक्षा की पाठ्यचर्या के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के विज्ञान (जिसके फलस्वरूप प्रकृति के पंचभूत तत्वों का ज्ञान प्राप्त हो सके), मनोविज्ञान, आध्यात्मशास्त्र तथा दर्शन के विषयों को स्थान देने की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त'वेद' तथा दूसरों के उपदेश को भी पाठ्यचर्या में स्थान दिया गया है।

शिक्षण विधि:

सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान अथवा शिक्षा प्रदान करने की विभिन्न विधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

सांख्य दर्शन में वैध ज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है तथा अवैध अथवा मिथ्या ज्ञान को 'अप्रमा'। सांख्य दर्शन के अनुसार वही ज्ञान सत्य होता है जिसमें बुद्धि की वृत्ति वस्तु के रूप को सही प्रकार से प्रकट करती है।'प्रमा' शब्द का प्रयोग यथार्थ ज्ञान, शुद्ध बोध अथवा भ्रम रहित ज्ञान के लिए होता है। जो ज्ञान ज्ञाता को पहले से ज्ञात न हो, किंतु निश्चित एवं सत्य हो वही 'प्रमा' है। प्रमा यथार्थ अनुभव है जो स्मृति से भिन्न,ज्ञानेन्द्रिय और वस्तु के संयोग से उत्पन्न साक्षात् ज्ञान है। यह वस्तुनिष्ठ होता है तथा प्रत्येक स्थिति में समरूप रहता है।

छात्र एवं अध्यापक-संकल्पना:

सांख्य-दर्शन के अनुसार छात्र एक साधक है। अतः "साधक को श्रेष्ठ आचरण करना चाहिए। शिष्ट पुरुषों-ऋषियों, संतों, महापुरुषों के आचरण से शुभ कार्य करना अच्छा होता है।अध्यापक भी साधक-विद्यार्थी की भांति ब्रह्मचारी, वैरागी, दानशील, आत्मज्ञान युक्त, बहु शास्त्र ज्ञाता, अध्ययनशील और गुणवान् होना चाहिए। ज्ञान, संकल्प, स्वकर्मानुष्ठान प्रवृत्त एवं मंगलाचरणवान् होना अध्यापक की विशेषता है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

3. सांख्यदर्शन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ?

3.5 योग दर्शन

सांख्य और योग दर्शन का विवेचन एक दूसरे के पूरक रूप में किया जाता है। माना जाता है कि सांख्य दर्शन में तत्व-चिंतन है जबकि योग-दर्शन में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए साधना का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। योग आत्म-दर्शन का साधन है, जिससे जीव और ब्रह्म का मिलन होता है और अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अतः कहा जा सकता है कि योग दर्शन योग संबंधी उपदेश या व्यवस्थित कथन है। योग दर्शन के रचयिता महर्षि पतंजलि हैं।

वस्तुतःसांख्य में जिन तीन प्रकार के दु:खों का वर्णन किया गया है उनसे मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग योग दर्शन द्वारा प्रकाशित किया गया है। यही कारण है कि सांख्य एवं योग एक दूसरे से संबंधित तथा परस्पर संपूरक हैं।

शिक्षा की संकल्पना:

महर्षि पतंजलि के अनुसार शिक्षा एक 'दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।महर्षि पतंजलि के 'महाभाष्य' नामक ग्रंथ के अनुसार - "शिक्षा वह प्रक्रिया है जो मनुष्य को अपने, लौकिक कर्मों को करने के योग्य बनाती है।" शिक्षा को आत्मनिरोध या नियंत्रण द्वारा आध्यात्मिक एवं सांसारिक विकास की प्रक्रिया भी कहा जा सकताहै।

शिक्षा के उद्देश्य:

योग दर्शन 'चित्तवृत्ति के निरोध' का दर्शन है। चित्त के सत्व, रजस् और तमस् तीन गुणहोते हैं जो मनुष्य के व्यवहार में प्रकट होते हैं। मनुष्य की दस इंद्रियों (ज्ञान व कर्मेन्द्रिय) और मन द्वारा जो अनुभव होते हैंउन्हे पांच प्रकार का कहा गया है - यथार्थ संज्ञान, अयथार्थ संज्ञान, कल्पना, समाधि और स्मृति। आत्म-शिक्षण के द्वारा इन पर अंकुश लगाया जाता है। इस प्रकार योग की सिद्धि होती है। अतः शिक्षा के उद्देश्य भी इसी के आधार पर निर्मित हैं -

- आत्म-प्रशिक्षण एवं आत्म-नियंत्रण
- नैतिकता का विकास
- पूर्णता की प्राप्ति
- लोक कल्याण की भावना का विकास
- अच्छे संस्कारों का निर्माण

शिक्षण विधि

योग दर्शन में अनेक शिक्षण-विधियों की चर्चा की गई है। जैसे उपदेश, व्याख्या, विश्लेषण-संश्लेषण-विधि, सूत्र विधि, श्रवण, मनन, ध्यान, धारणा की विधि, अभ्यास या क्रिया-विधि, स्वाध्याय-विधि, तर्क-विधि आदि।

शिक्षा-पाठ्यचर्या:

'योगश्चित्तवृत्तिः निरोध' जैसे सूत्र में योग क्या है, चित्त क्या है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं, निरोध के लिए अष्टांग योगके क्या साधन हैं?इनकी सिद्धि कैसे होती है आदि प्रश्नो का उत्तर पाठ्यचर्या की ओर संकेत करता है। शिक्षा की पाठ्यचर्या में धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान तथा योगाभ्यास और अन्य शारीरिक क्रियाएं रखी गई हैं। यदि पंतजलि के महाभाष्य को ध्यान में रखा जाए और पाठ्यचर्या पर विचार किया जाए तो निम्न विषयों को भी पाठ्यचर्या में समाहित किया जा सकता है।

भाषा, तर्कशास्त्र, इतिहास, वेद, धनुर्विद्या आदि।

अनुशासन:

जब तक मनुष्य का चित्त 'निर्मल एवं स्थिर' नहीं हो जाता, तब तक वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। शुद्ध हृदय तथा शांत मन से ही ज्ञान की साधना संभव है। योग इस प्रकार का साधन है, जिससे शरीर और मन शुद्ध तथा स्थिर रहते हैं।

छात्र एवं अध्यापक संकल्पना:

योग दर्शन के अनुसार विद्यार्थी स्वाध्यायी ब्रह्मचारी एवं कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए। अध्यापक को भी ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए अर्थात् जो योग द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर चुका है। योगाभ्यासी गुरू शांत, एकांत, बाधा रहित स्थान पर रहते हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

4. योगदर्शन के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम तथा छात्र-अध्यापक एवं छात्र संकल्पना को स्पष्ट कीजिए।

3.6 मीमांसा दर्शन

महर्षि जैमिनी द्वारा प्रतिपादित मीमांसा का तात्पर्य उस दर्शन से है जो वैदिक कर्मकाण्ड विषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोधों का परिहार करता है और इसके लिए सुनिश्चित सिद्धांत प्रस्तुत करता है। यह दर्शन वेदों के ज्ञान को कर्म के रूप में प्रस्तुत करता है। मीमांसा दर्शन के अंतर्गत जगत् को मिथ्या नहीं माना गया है यह दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। जगत् की सृष्टि या रचना करने की शक्ति कर्म में है। इसमें ईश्वरको कोई अधिकार नहीं है। कर्म की अपनी स्वतंत्र शक्ति है जिसे अपूर्व की संज्ञा दी गई है। वही जगत् का संचालन करती है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन एक ओरईश्वर को नहीं मानता है तो दूसरी ओर वेदों में निहित, कर्मों को करने के लिए भी कहता है। कर्म से ज्ञान और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। शिक्षा लेना भी एक कर्म है जिससे ज्ञान रूपी फल की प्राप्ति होती है। मीमांसा दर्शन में कर्म एवं ज्ञान का समन्वय अपने उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगत होता है।

शिक्षा की संकल्पना:

मीमांसा का तात्पर्य है - विवेचना। अतः मीमांसा दर्शन के अनुसार शिक्षा से अभिप्राय है-ज्ञान के विवेचना की प्रक्रिया। ज्ञान को बोध भी कहते हैं। वस्तुतः शिक्षा एक बोधात्मक जटिल प्रक्रिया है जिसमें बाह्य और अंतर्जगत का मेल होता है तथा इसके लिए 'जिज्ञासा' को आवश्यक माना गया है।

शिक्षा के उद्देश्य:

मीमांसा दर्शन शिक्षा को वैयक्तिक एवं सामूहिक हित की क्रिया मानता है। वस्तुतः शिक्षा प्राप्त करना एवं प्रदान करना मानव धर्म है। इस दृष्टिकोण से मीमांसा दर्शन के शिक्षा संबंधी निम्न उद्देश्य स्पष्ट होते हैं -

- धर्म के स्वरूप की परीक्षा करना
- वैदिक धर्म के प्रति सत्यनिष्ठा उत्पन्न करना
- वैदिक धर्म का पुनरूत्थान करना
- वेदों के विषय-विभाग एवं उनके अर्थ को समझने की योग्यता प्रदान करना
- भाषाशास्त्र व शब्द वाक्य का सही ज्ञान देना
- मनुष्य का सामाजिक व नैतिक कल्याण करना

शिक्षा की पाठ्यचर्या एवं पद्धति:

दर्शन के अनुसार धर्म, दर्शन, साहित्य, वेद, उपनिषद, भाषा और व्याकरण को शिक्षा की पाठ्यचर्या का अंग बनाया गया है। मीमांसा की शिक्षा-पाठ्यचर्या में यज्ञ, अग्निहोत्र (हवन) एवं सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। सूत्र-विधि, उपदेश-प्रवचन-विधि, प्रयोग-परीक्षण-विधि, अभ्यास-विधि, तर्क-विधि, क्रिया-विधि आदि को मीमांसा दर्शन की शिक्षा की विधि के अंतर्गत स्थान दिया गया है।

अध्यापक एवं छात्र-संकल्पना:

मीमांसा दर्शन के अनुसार विद्यार्थी ब्रह्मचर्य के अनुसार त्याग, तपस्या का जीवन व्यतीत करता है। गुरू के पास रहकर उसके आदेशों का पालन करके उपदेशों व प्रवचनों को सुनकर जीवन में उनका अभ्यास करता है। अध्यापक भी ब्रह्मचर्य का पालन करता है और छात्र को भी आचारवान् बनाने का प्रयास करता है। आचार्य स्वयमेव गुणी, ज्ञानी तथा यज्ञ करने वाला होता है। अध्यापक शिष्य की 'धर्म-जिज्ञासा' को पूर्ण करता है। शिक्षक सद्पथ प्रदर्शक होता है और विद्यार्थी को धर्म (कर्तव्य) तथा अधर्म (अकर्तव्य) का ज्ञान प्रदान कर मोक्ष का अधिकारी बनाता है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन का केंद्रीय कथन धर्म या कर्तव्य का अनुशीलन है। धर्म या कर्तव्य-पालन, सदाचार, सामाजिक कल्याण, नैतिक प्रगति आदि शिक्षा के केन्द्र-बिंदु कहे जा सकते हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

5. मीमांसादर्शन में अध्यापक एवं छात्र संकल्पना को स्पष्ट कीजिए।

3.7 वेदांत दर्शन

वेदांत दर्शन एक प्रमुख भारतीय चिंतन परंपरा है, जिसके प्रवर्तक शंकराचार्य थे तथा यह अद्वैत-वेदांत कहलाता है। वेदांत-दर्शन की एक अन्य शाखा, जिसके प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य थे, विशिष्टाद्वैत के नाम से जानी जाती है। शिक्षा की दृष्टि से दोनों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है।

वेदांत दर्शन के अनुसार भी शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य विद्यार्थी को 'अज्ञान से मुक्त करके उसे ज्ञान की अनुभूति करवाना है जिससे कि वह विद्या एवं अविद्या में विवेकपूर्ण भेद कर सके, सत्य एवं मिथ्या का अंतर समझ सके और अपने आप में निहित अनंत-ज्ञान व अनंत-शक्ति को पहचान सके। अविद्या दूर होने पर तो मुक्ति हो ही जाती है परंतु शिक्षा का कार्य छात्रों को इस विवेक-ज्ञान का निरंतर विकास करने हेतु सक्षम बनाना है, जिससे वे भावी जीवन में अज्ञान से धीरे-धीरे मुक्ति पाकर सद्जीवन व्यतीत कर सकें।

वेदांत दर्शन के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य है - प्राप्त ज्ञान का कर्म में उपयोग। कर्म में उपयोग न होने से ज्ञान का कोई मूल्य एवं महत्व नहीं रहता है। स्वामी विवेकानंद कहते हैं - "उठो, जागो और श्रेष्ठ कर्म करो।" अतः यह शिक्षा का व्यावहारिक अर्थ कहा जा सकता है। सार रूप में कहा जा सकता है कि कर्म,भक्ति तथा ज्ञान के समन्वय की प्रक्रिया को वेदांत-शिक्षा की संज्ञा दी जा सकती है।

शिक्षा के उद्देश्य: वेदांत दर्शन के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं -

- मोक्ष प्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञान
- सद्जीवन का विकास
- कर्म-भक्ति-ज्ञानयुक्त समन्वित व्यक्तित्व का विकास
- वसुधैव कुटुम्बकम् की अनुभूति
- जीवन को पूर्णरूपेण पुनर्संगठित करने की कला सिखाना। अतः कहा जा सकता है कि मनुष्य को अविवेकी पशु-तुल्य जीवन से ऊपर उठाकर चिंतनप्रधान मनुष्य बनाना वेदांत दर्शन के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है।

शिक्षा की पाठ्यचर्या:

स्वामी शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्ता की चर्चा की है- प्रतिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। इनमें प्रतिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता का संबंध जगत् से है और पारमार्थिक सत्ता का संबंध ब्रह्म से है। इसके अनुसार शिक्षा का ऐसा पाठ्यक्रम हो जिसमें उक्त तीनों प्रकार के विषयों का समावेश हो। यह पाठ्यक्रम न केवल समग्रतापूर्वक सत् का द्योतक है न असत् का अपितु सत् एवं असत् का विलक्षण मिश्रण होना चाहिए। श्री शंकराचार्य के अनुसार "वह सांसारिक ज्ञान, जिसमें जगत् को सब विषयों का मूल अथवा कारण माना जाता है, निश्चित ही सत्य है। जैसे कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है, वैसे ही सत्ता रूपी जगत् भी विकास में रहता है क्योंकि कारण-कार्य अभिन्न हैं।"

स्पष्ट ही है कि अद्वैत वेदांत-दर्शन की दृष्टि से पाठ्यक्रम में निम्न दो विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है -

- पारमार्थिक विषय, जिसके अंतर्गत आत्मा एवं ब्रह्म का ज्ञान सम्मिलित किया जाता है।
- व्यावहारिक विषय, जिसके अंतर्गत इस संसार को समझने तथा इसमें सुचारू रूप से समायोजित होने के लिए आवश्यक ज्ञान का समावेश किया जाता है।

अद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत दोनों में से किसी भी दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो पाठ्यक्रम में व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विषयों को उचित स्थान मिलना चाहिए। साहित्य, दर्शन, कला तथा धर्म आत्म-ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं। तर्क सम्मत ज्ञान के विषय जैसे -गणित, भौतिक विज्ञान एवं सामाजिक ज्ञान का स्थान इनके पश्चात् आता है।

शिक्षण विधि:

वेदांत दर्शन के अनुसार परम ज्ञान की प्राप्ति तभी होती है जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान-प्रक्रिया में एकाकार हो जाए। परंतु जब तक वह स्थिति नहीं आती है तब तक ज्ञान-प्राप्ति के शारीरिक अवयवों का महत्व कम नहीं किया जा सकता।

ज्ञान-प्राप्ति का प्राथमिक उपकरण इन्द्रियां हैं, जिन्हें वाह्यकरण कहा जाता है। परंतु इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के विश्लेषण, सामान्यीकरण, बोध, संकल्प, निर्णय आदि कार्यों के लिए एक और उपकरण होता है जिसे अंतःकरण कहा गया है। अंतःकरण शरीर का कोई स्थूल अंग नहीं है। उसमें एक पारदर्शिता होती है, जिसके कारण उसमें दर्पण के समान पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है तथा वह पदार्थ को जान सकता है। अंतःकरण को प्रकाश देने वाली आत्मा है। शंकराचार्य ने ज्ञान-प्राप्ति के तीन स्रोतों की चर्चा की है- प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। उपनिषदों में वर्णित ज्ञान-प्राप्ति के तीन साधनों यथा-श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विवेचन शंकराचार्य ने भी किया है।

अध्यापक एवं छात्र-संकल्पना:

अद्वैत वेदांत-दर्शन विद्यार्थी को ब्रह्म का अंश मानता है। सभी विद्यार्थियों में एक ही आत्मा का वास है। अद्वैत दर्शन आत्मा और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं करता है। इसी को 'तत्वमसि' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं कहा गया है। अद्वैत वेदांत के अनुसार प्रत्येक बालक अनन्त ज्ञान और शक्ति का भंडार है। श्री रामानुजाचार्य के अनुसार बालक का शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य है। प्रत्येक बालक का स्वतंत्र अस्तित्व है, उसकी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है, उसका अपना अद्वितीय व्यक्तित्व है, जिसके नेपथ्य में देवी सत्ता विद्यमान है। अद्वैत वेदांत के अनुसार शिक्षक ऐसा होना चाहिए जिसने सत्ता की अनुभूति कर ली हो तथा जो स्वयं जीवन्मुक्त हो तथा जो बच्चों के व्यक्तित्व का समादर करे। उन्हें आत्मवत् समझे तथा क्रमशः भिन्नताओं में एकता को देखने का अभ्यास करे।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

6. वेदांत शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ बताइए ।

3.8 जैन दर्शन और शिक्षा

भारतीय चिंतनधारा में जैन दर्शन की पर्याप्त स्वतंत्रता दृष्टिगत होती है, जो वेदों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है। जैन-दर्शन की मान्यता है कि ''ईश्वर की अवधारणा के बिना इस ब्रह्मांड के रहस्य को सुलझाना और पूर्णतया प्राप्त कर लेना संभव है।''

शिक्षा से अभिप्राय:

जैन-दर्शन के अनुसार जो ज्ञान व्यक्ति को सद्जीवन की ओर प्रेरित करता है, वही विद्या है। ज्ञान चाहे सांसारिक हो अथवा धार्मिक अथवा व्यावसायिक, यदि वह व्यक्ति तथा समाज के लिए हितकारी है तो उसे शिक्षा का अंग माना जाएगा, अन्यथा नहीं। वह सभी ज्ञान उपयोगी है, जो मनुष्य को सद्चरित्र की ओर प्रेरित करे। जैन दर्शन में शिक्षा उदात्त जीवन हेतु एवं निर्वाण प्राप्ति हेतु सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन एवं सम्यक्-चरित्र की प्रक्रिया है।

जैन-दर्शन के अनुसार सम्यक्ज्ञान तो अध्ययन द्वारा अर्जित किया जा सकता है परंतु सम्यक्-दर्शन का उदय तभी होता है, जब अज्ञान तथा अकरणीय के प्रति विरक्ति होती है, जिसे जैन-दर्शन की शब्दावली में 'निर्जरा' कहा गया है।

सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-दर्शन का समाहार सम्यक्-चरित्र में होना चाहिए। अहित-कार्यों का निवारण तथा हित-कार्यों का आचरण सम्यक्-चरित्र कहलाता है। ज्ञान और श्रद्धा की परिणति आचरण में होनी चाहिए।जैन शिक्षा व्यक्ति को पांच महाव्रत, चार धर्म तथातीन अनुशासन प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त यह शिक्षा मनुष्य को सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में उचित व्यवहार करना सिखाती है।

शिक्षा के उद्देश्य:

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर जैन-दर्शन के शिक्षा संबंधी उद्देश्यों को संक्षेप रूप में निम्नप्रकार से देखा जा सकता है-

- सम्यक् ज्ञान-प्रदान करना
- व्यक्ति को सद्वृत्तियों से संयुक्त करना
- व्यक्तित्व का समुचित विकास करना
- व्यक्ति का सामाजिक विकास करना
- मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना

पाठ्यचर्या:

जैन-दर्शन में ज्ञान को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। ''मनुष्य को पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तभी वह अहिंसा का पालन कर सकता है।'' जैन-दर्शन में आत्मा तथा जगत् दोनों की वास्तविकता को स्वीकार किया गया हैअतः शैक्षिक पाठ्यक्रम में सांसारिक तथा अध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विषयों को उचित स्थान प्रदान किया गया है। जगत् संबंधीव्याख्या जो जैनों के 'षड्द्रव्य-निरूपण' में मिलती है, उसमें वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता का उचित समन्वय दिखाई देता है। जगत् की यह व्याख्या एक ओर यथार्थता लिए हुए हैतो दूसरी ओर आदर्श से रहित नहीं है। जैन्दर्शन के शिक्षा संबंधी पाठ्यक्रम में इस जगत् का ठोस ज्ञान, जीवन को बेहतर बनाने के लिए, इसके रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए तथा जीवन की सुविधाएँ जुटाने के लिए उपयोगी बताया गया है।

जैन-दर्शन में वनस्पति, मिट्टी, अग्नि, जल तथा वायु में भी जीव माना गया है तथा उनकी आंतरिक शारीरिक संरचना की कल्पना की गई है। उक्त तत्वों का अध्ययन भी शिक्षा क्रम का आवश्यक अंग है। काल के अध्ययन तथा जीवन का अध्ययन करने हेतु क्रमशः इतिहास, समाज अध्ययन, कला, कौशल, व्यवसाय, वाणिज्य तथा धार्मिक, नैतिक, शारीरिक क्रियाएं और व्यवसाय संबंधी क्रियाएं जैन-पाठ्यचर्या में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कहा जा सकता है कि जैन्पाठ्यचर्या का जीवन व समाज से गहरा संबंध है।

शिक्षण-विधि:

जैन-दर्शन में ज्ञान के पांच प्रकारों का वर्णन किया गया है। यथा-मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यव तथा कैवल्य।

- मतिज्ञान साधारण ज्ञान है जो इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है(अन्य भारतीय दर्शन में इसे 'प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी गई है)।
- श्रुतिज्ञान अथवा शब्द ज्ञान वह है जो लक्षणों, प्रतीकों अथवा शब्दों के द्वारा प्राप्त होता है।
- देश और काल की परिधि को पार करके जो इंद्रियातीत ज्ञान प्राप्त होता है वह अवधिज्ञान कहलाता है।
- मन: पर्यव ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा हम अन्य व्यक्तियों के वर्तमान तथा अतीत, विचारों एवं मनोभावों को जान सकते हैं।
- कैवल्यज्ञान वह पूर्ण ज्ञान है जिसके द्वारा सभी द्रव्यों तथा उनके पर्यायों का संपूर्ण ज्ञान हो जाता है।

जैन-दर्शन की ज्ञान संबंधी मान्यताओं के संदर्भ में 'स्यादवाद' एक अत्यंत महत्वपूर्ण बिंदु है।स्यादवाद'अस्ति नास्तिवाद' है जिसका अर्थ यह है कि कोई वस्तु एक ही समय में 'है' और 'नहीं' भी है।किसी वस्तु की पूर्णतः पुष्टि अथवा उसका पूर्णतः निषेध कर सकना असंभव है।उपर्युक्त विचार-विमर्श के संदर्भ में जैन दर्शन में ज्ञान प्राप्त करने की निम्नलिखित विधियों का उल्लेख किया जा सकता है-

- इन्द्रिय-प्रत्यक्ष विधि

- तर्क विधि
- वर्णन विधि
- चिंतनमनन विधि
- उपयोग या व्यावहारिक विधि
- अंतर्दृष्टि अथवा अंर्तज्ञान विधि
- मनः पर्यव विधि
- कैवल्य ज्ञान की विधि

<u>अध्यापक एवं छात्र-संकल्पना:</u>

जैन-दर्शन में छात्र को एक सचेतन, बुद्धि-विवेक युक्त, भावनापूर्ण, सज्जीवनोन्मुखी, ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाली जीवात्मा कहा गया है। शिक्षा जन्म जन्मान्तर चलने वाली प्रक्रिया या कर्म है। पूर्व जन्म के कर्मानुसार सभी छात्र एक्दूसरे से बुद्धि, मन, भावना में भिन्न होते हैं और उनका विकास अलग-अलग होता है। इनकी भिन्नता के अनुकूल पाठ्यवस्तु को आयोजित किया जाता है।

विद्यार्थी दो प्रकार के होते हैं:

'श्रावक' तथा 'श्रमण'। श्रावक 'अणुव्रती' होता है। परंतु दोनों के लिए संयम एवं ब्रह्मचर्य आवश्यक है। श्रावक से यह अपेक्षा रहती है कि वह जैसा भी जीवन व्यतीत करे उसमें पाँच व्रत सूक्ष्म तथा सीमित रूप में प्रतिबिम्बित हों। 'श्रमण' की शिक्षा 'पारमार्थिक' होती है। उसका प्रयोजन 'आत्म-कल्याण' होता है।अतः उसके लिए कठोर संयम का प्रावधान किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार शिक्षक के भी दो स्तरों की चर्चा की गई है। एक शिक्षक अनुशासन तथा चरित्र निर्माण को देखने वाला होता है जिसे आचार्य कहा जाता है। दूसरा शिक्षक जो अध्ययन-अध्यापन का कार्य करता है, उसे उपाध्याय कहते हैं। उपाध्याय ज्ञान की विशिष्ट शाखा में निष्णात होता है तथा साथ ही उसका सामान्य ज्ञान उच्च कोटि का होता है। जैन दर्शन में अध्यापक के (आचार्य के) अनेक गुणों की भी चर्चा की गई है। जैसे -निष्कलंक चरित्र, पंचमहाव्रतों का पालन, जितेन्द्रिय, कषायों (मान, लोभ, मोह, माया) का त्याग, प्रभावशाली व्यक्तित्व आदि।

उपाध्याय में निम्न गुणों की अपेक्षा की गई है। जैसे-लिखित विशिष्ट विषय का पूर्ण ज्ञाता, व्यापक दृष्टिकोण, शिक्षण-विधियों में निष्णात अथवा कुशल, समाज में सम्मानित व्यक्तित्व, सांसारिक व्यवहार में कुशल, छात्रों की जिज्ञासा को पूर्ण करने में दक्ष आदि। सार रूप में कहा जा सकता है कि जैन दर्शन की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का इस प्रकार समुचित विकास करना है, जिसमें सम्यक्-ज्ञान की प्रतीति हो, श्रद्धा हो, भावनाओं का इन्मेष हो तथा चरित्र में ज्ञान एवं विश्वास की परिणति हो।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

7. जैन दर्शन के अनुसार किस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिए।

3.9 बौद्ध दर्शन और शिक्षा

बौद्ध-दर्शन नैतिक-जीवन का दर्शन है। बुद्ध का मानना है कि जिन विषयों के समाधान के लिए पर्याप्त प्रमाण न हों, उनके समाधान की चेष्टा व्यर्थ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष एवं संदिग्ध विषयों के बारे में तर्क का परित्याग कियाक्योंकि उससे मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं होता है। बौद्ध-दर्शन जीवन में आचरण की पवित्रता पर बल देता है।

<u>शिक्षा की संकल्पना:</u>

बुद्ध ने जीवन के चार आर्य सत्य बताए हैं- दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःखनिरोधगामी प्रतिपद। इस संसार में दुःख ही दुःख है। अतः अज्ञान और उससे प्राप्त दुखों को दूर करने का मार्ग जानना ही बोध अथवा शिक्षा है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार जीवन में दुःख है और शिक्षा इन दुःखों को दूर करने का मार्ग बताती है।इसके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन में शिक्षा की संकल्पना आत्मज्ञान अथवा आत्म-बोध के रूप में भी की गई है।

शिक्षा के उद्देश्य:

भगवान बुद्ध ने सद्जीवन के लिए जो अष्टांग मार्ग प्रदर्शित किया है, उसी को हम शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्य के रूप में देख सकते हैं -

- सम्यक् दृष्टि
- सम्यक् संकल्प
- सम्यक् वाक्
- सम्यक् कर्म
- सम्यक् आजीविका
- सम्यक् व्यायाम
- सम्यक् स्मृति
- सम्यक् समाधि

कालांतर में बौद्ध शिक्षा प्रणाली में जिन व्यावहारिक उद्देश्यों को स्थान प्राप्त हुआ है वे निम्न प्रकार से हैं-

- व्यक्तित्व का विकास
- नैतिक जीवन
- सर्वांगीण विकास
- संस्कृति का संरक्षण

पाठ्यचर्या:

बौद्ध-दर्शन के अनुसार यह जगत् परिवर्तनशील हैसंसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। बौद्ध-दर्शन का मूल आग्रह दुःखवाद तथा दुःख से मुक्त होने के उपाय तक सीमित रहा। इस परिप्रेक्ष्य में बौद्धदर्शन के अनुसार शिक्षा हेतु पाठ्यक्रम निम्न प्रकार से देखा जा सकता है -

- चार आर्य सत्यों का पूर्ण परिपाकइसके अंतर्गत विश्व की व्यवस्था, जगत में मनुष्य का स्थान, जगत की परिवर्तनशीलता तथा क्षणिकता इत्यादि गहन अध्ययन आते हैं।
- सम्यक् रूप से आजीविका उपार्जन की कला।
- बौद्ध साहित्य का अध्ययन
- भगवान बुद्ध तथा अन्य संत चरित्रों का अध्ययन।

शिक्षण-विधि:

बौद्ध-विहारों में शिक्षा प्रदान करने की तीन प्रमुख विधियों का उल्लेख मिलता है जो निम्न है -

- अध्यापक द्वारा शिक्षार्थियों के छोटे समूह में शिक्षा
- व्याख्या
- चर्चा

सामूहिक अध्ययन:

अध्यापन के अतिरिक्त वैयक्तिक अध्ययन-विधियों का विवेचन भी मिलता है। जैसे -

- तथ्यों को स्मरण करना तथा उनका संचय करना।
- अध्ययन की गई सामग्री पर बार-बार मनन करना।
- मनन के पश्चात् आत्मसात् की हुई सामग्रीको दृढ़ता के साथ धारण करना।

इनके अतिरिक्त वार्तालाप विधि, भ्रमण-विधि, उपदेश-विधि, प्रायोगिक विधि, बाह्य क्रिया विधि आदि भी बौद्ध-शिक्षा की प्रमुख विधियाँ हैं।

अध्यापक-छात्र-संकल्पना-बौद्ध-दर्शन के 'मध्यमा प्रतिपदा' सिद्धांत के अनुसार विद्यार्थी का अतीत साथ-साथ उसका भविष्य भी है। छात्र का वर्तमान अस्तित्व उसके पूर्वजन्म के कर्म तथा बाल्यावस्था के संस्कारों पर निर्भर है। छात्र का भविष्य उसके वर्तमान संकल्पों तथा कर्मों पर निर्भर है। भावी विकास की क्षमताएँ वर्तमान अस्तित्व में विद्यमान है। भावी कार्य के बीज वर्तमान कारण में विद्यमान रहते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार शिक्षाप्राप्त करना प्रत्येक मानव का अधिकार है। निर्वाण को प्रशस्त करने वाली शिक्षा सबको सुलभ होनी चाहिए।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार वही व्यक्ति शिक्षक हो सकता है जिसने चार आर्यसत्यों को समझ लिया है तथा जिसका स्वयं का जीवन बुद्ध द्वारा प्रदर्शित अष्टांग मार्ग के अनुरूप व्यतीत होता है। जैनदर्शन के अनुरूप इस दर्शन में भी शिक्षकों के दो भिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है। 'आचार्य' छात्रानुशासन का अधिकारी होता है तथा 'उपाध्याय' अध्ययन-अध्यापन का। बौद्ध शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक शिष्य के लिए किसी को गुरू बनाना अनिवार्य है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

8. बौद्ध दर्शन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यक्या हैं?

प्रमुख भारतीय विचारकों का योगदान

3.10 महात्मा गांधी

महात्मा गांधी एक प्रमुख भारतीय विचारक हैं जिन्होंने सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह को जीवन का मूल्य बनाया और इन्हीं मूल्यों के पालन के लिए हमें अभि प्रेरित किया।

जीवन परिचय:गांधीजी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को कठियावाड़ राज्य के पोरबंदर नामक स्थान पर हुआ उनका पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनके पिता करमचन्द पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। उनकी माता पुतलीबाई धार्मिक विचारों वाली महिला थी। 13 वर्ष की आयु में कस्तूरबा गांधी से उनका विवाह हुआ। गांधी जी के जीवन पर उनकी माता का गहरा प्रभाव पड़ा। गांधी जी की प्रारंभिक शिक्षा पोरबंदर मे हुई। उनका परिवार सन्1876 में राजकोट चला गया। वहीं के विद्यालय में उन्होंने सन्1887 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और फिर सन्1891 में वे बैरिस्टर की उपाधि लेकर इंग्लैण्ड से भारत लौटे। सन्1893 में एक मुकदमें में वकील के रूप में दक्षिण अफ्रीका गए। वहां उन्होंने भारतीयों के साथ हो रहे सरकारी अत्याचारों के विरोध में सत्याग्रह आंदोलन किया। वहां से आकर सन्1915 में उन्होंने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की।

गांधी जी के विचारों पर प्रभाव डालने वाले तत्व :- गोखले को राजनैतिक गुरू मानते हुए उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भाग लिया। गांधी जी ने छोटे स्तर पर तीन प्रमुख आंदोलन किए। पहला चंपारण (बिहार) में सन्1917 में गांधीजी ने खेतिहर मजदूरों के शोषण के विरूद्ध सत्याग्रह किया। दूसरा सन्1918 में अहमदाबाद के कारखानों के मजदूरों के हितों के लिए किया।सन्1918 में उनका तीसरा आंदोलन बम्बई प्रेसीडेन्सी के खेड़ा जिले में अंग्रेजी सरकार की कर नीति के विरूद्ध था। सन्1919 मे रौलेट एक्ट का विरोध करने के कारण उनको 6 वर्षों तक जेल में रहना पड़ा। सन्1919 से 1922 तक उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अनेक प्रयास किए। सन्1930 में उन्होंने दाण्डी सत्याग्रह किया। सन्1931 में गांधी इरविन ऐक्ट तथा सन्1932 में लंदन में हुए द्वितीय गोलमेज सम्मेलन का प्रतिनिधित्व किया। सन्1942 में उनके द्वारा भारत छोड़ो आंदोलन प्रारंभ किया गया जिसमें उन्होंने 'करो या मरो' का नारा दिया।

गांधीजी की प्रमुख कृतियाँ :- गांधी जी ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति समय-समय पर पत्रकार के रूप में 'यंग इंडिया, 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन बंधु' आदि समाचार पत्रों के माध्यम से की। उन्होंने अनेक पुस्तकों की भी रचना की जिसमें मुख्य निम्नलिखित हैं:

- हिंद स्वराज
- दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह
- अपनी आत्मकथा (आत्मकथा)
- मेरे सत्य के साथ प्रयोग
- सर्वोदय
- सत्याग्रह
- गीता बोध

गांधी जी का जीवन-दर्शन सर्वोदय के सिद्धांत पर आधारित था। उनके मत में सर्वोदय का अर्थ-सभी के उदय से संबंधित है जिसमें व्यक्ति के उदय के साथ-साथ समाज का उदय भी निहित है। गांधी जी वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे।

गांधी जी की विचारधारा सत्य और अहिंसा पर आधारित थी। उनके मतानुसार सत्य में ही शिव और सुन्दर निहित है। गांधी जी का दूसरा महामंत्र अहिंसा थअहिंसा परमो धर्मः। अहिंसा और सत्य परस्पर ऐसे ओतप्रोत हैं, जैसे-सिक्के के दोनों रूप अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए।

गांधी जी के शिक्षा संबंधी विचार उनके समाचार पत्र 'हरिजन' में लिखे गये लेखों में मिलते हैं। गांधी का कथन है, "जो शिक्षा चित्त की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में रखना न सिखाए, निर्भरता और स्वावलंबन न पैदा करे, उस शिक्षा मे चाहे जितनी जानकारी का खजाना, तार्किक कुशलता और भाषा साहित्य मौजूद हो वह सच्ची शिक्षा नहीं।' इसके आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षा द्वारा बालक को हस्तकौशल स्वावलंबन और व्यवहार कुशलता की प्रेरणा दी जानी चाहिए।

गांधीजी के अनुसार शिक्षा की परिभाषा :

शिक्षा को परिभाषित करते हुए गांधी जी ने कहा है "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक तथा मनुष्य में निहित शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक श्रेष्ठ शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है।"

इस परिभाषा के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षा द्वारा शरीर, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। शिक्षा केवल ज्ञान का माध्यम नहीं है। उनका कहना था, "साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है और न शिक्षा का प्रारम्भ। वह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरुष और स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।"

गांधीजी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य

गांधी के मत में शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

1. जीविकोपार्जन का उद्देश्य :- गांधी जी का मानना था, "शिक्षा को बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों कीप्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकें।

2. सांस्कृतिक विकास (Cultural Development):- "गांधी जी सांस्कृतिक विकास को अधिक महत्व देते थे। उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा-"संस्कृति बालिकाओं के लिए अत्यंत आवश्यक है।"

3. नैतिक विकास (Moral Development) :- नैतिक अथवा चारित्रिक विकास को गांधी जी अधिक महत्व देते हैं। उनका मानना था कि, "समस्त ज्ञान का उद्देश्य चरित्र का विकास करना होना चाहिए। "चरित्र के बिना शिक्षा और पवित्रता व्यर्थ है।

4. व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास(Harmonious Development of Personality)-गांधीजी के अनुसार बालक के सभी पक्षों को इस रूप में विकसित किया जाना चाहिए जिससे उसके व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास हो सके। गांधी जी का विश्वास है कि जब तक मस्तिष्क और शरीर का विकास आत्मा की जागृति के साथ नहीं होगा, तब तक पहले प्रकार का विकास एकांगी सिद्ध होगा।

गांधीजी की कार्य पद्धति :गांधी जी की कार्य पद्धति प्रयोजनवाद पर आधारित थी। गांधी जी के आदर्श राज्य के मूल में सर्वोदय की भावना है, जिसका अर्थ है सबका उदय। गांधी जी ने अपने जीवनकाल मे पाँच प्रमुख आन्दोलनों को चलाया। उनका उद्देश्य व्यक्ति के मौलिक अधिकारों पर होने वाले कुठाराघात का प्रतिरोध करना था। उनका मानना था कि भारत की अधिकांश जनता गाँव में निवास करती है और कोई भी व्यवस्था यदि ग्राम से संबंधित नहीं है तो अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होने के बजाए और कमजोर होगी।

सत्याग्रह :गांधीजी की कार्यपद्धति सत्याग्रह पर आधारित थी। सत्याग्रह सत्य और आग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है। उनके अनुसार यह क्रियात्मक असहयोग का अंग था। दक्षिण अफ्रीका में सबसे पहले गांधी जी ने इसका प्रयोग किया।

शिक्षा के संबंध में गांधीजी के विचार : गांधीजी के अनुसार वास्तविक शिक्षा वह है जो व्यक्ति को समाज के प्रति उसे अपनी जिम्मेदारियों और कर्तव्यों के लिए जागरूक करे। उनके विचार से सदाचार और निर्मल जीवन सच्ची शिक्षा का आधार हैं।

बुनियादी शिक्षा :गांधीजी मानते थे कि प्राथमिक शिक्षा ही बुनियादी शिक्षा है। उनके अनुसार शिक्षा में हस्तकला का महत्व होना चाहिए क्योंकि यह जीवन के यथार्थ से संबंधित होती है। गांधी जी कहते थे कि "शिक्षा की मेरी योजना में हाथ से अक्षर लिखने से पहले औजार चलाना होना चाहिए। यह तालीम दुनिया की दूसरी शिक्षा पद्धतियों से जल्दी फलदेने वाली होगी।"

उच्च शिक्षा संबंधी विचार :उनके अनुसार उच्च शिक्षा की योजना राष्ट्रीय आवश्यकता को दृष्टि में रखकर की जानी चाहिए। गांधी जी कहते थे देश की उन्नति को ध्यान मे रखते हुए उद्योग, व्यापार, कला और विज्ञान के क्षेत्रों में अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए विश्वविद्यालय और उनके अंतर्गत महाविद्यालयों को अपनी शिक्षा योजना बनानी होगी और फिर उसे क्रियान्वित करना होगा।

स्त्री शिक्षा से संबंधित गांधीजी के विचार : गांधी जी स्त्री शिक्षा के पक्षधर थे क्योंकि उनका मानना था कि स्त्रियों को समाज में उपयुक्त और सम्मानीय स्थान पाने के लिए शिक्षा बहुत जरूरी है। एक सुरक्षित नारी केवल अपने परिवार को ही भली भांति नहीं संभालती है बल्कि मुसीबत में स्वयं अपनी रक्षा करने में भी समर्थ होती है।

गांधीजी का भारतीय शिक्षा-प्रणाली में योगदान

(Gandhiji's Contribution to Indian Education System)

भारतीय शिक्षा प्रणाली को गांधी जी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन "बुनियादी शिक्षा है" जिसे "वर्धा शिक्षा योजना" के नाम से जाना जाता है। वर्धा शिक्षा योजना या बुनियादी शिक्षा (Basic Education) के अनुसार गांधीजी अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के विरोध में थे।गांधी जी के अनुसार साक्षरता स्वयं में कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए वे बच्चों की शिक्षा की शुरुआत में कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाने के पक्ष में थे।

गांधीजी के अनुसार बुनियादी शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ थी :

- उद्योग द्वारा शिक्षण।
- अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा।
- शिक्षा का माध्यम मातृभाषा।
- बालक के वास्तविक जीवन से संबंधित शिक्षा।
- स्वावलंबी बनाने वाली शिक्षा।
- सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास।
- सुयोग्य चरित्रवान नागरिक बनाने वाली शिक्षा।

महादेव देसाई के शब्दों में -

"गांधी जी ऐसी शिक्षा चाहते थे जिससे बालक एवं बालिका को संपूर्ण मानव बनाया जा सके। गांधी जी के अनुसार शिक्षा को क्रांतिकारी होना चाहिए। उनके शिक्षा में योगदान को **एम.एस.पटेल** ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है,"गांधी जी का शिक्षा दर्शन अपनी योजना में प्रकृतिवादी है, अपने उद्देश्य में आदर्शवादी है और अपनी पद्धति एवं कार्यक्रम में प्रयोजनवादी है।" उनकी शिक्षा बाल केन्द्रित है जिसमें बच्चों की रुचियों के अनुसार पाठ्यक्रम में विषयों का निर्धारण किया गया है।

गांधी जी वास्तव में आदर्शवादी थे। उनके अनुसार ज्ञान का उद्देश्य उत्तम-चरित्र का निर्माण करना है। उनका सर्वोदय का सिद्धांत-आदर्शवादी विचारधारा का ही पर्याय है।

गांधी जी का शिक्षा दर्शन अपनी योजना और कार्य-पद्धति में प्रयोजनवादी मान्यता पर आधारित है क्योंकि उन्होंने अपने पाठ्यक्रम में समन्वय विधि को महत्व दिया है।

संक्षेप में गांधी जी का शिक्षा-दर्शन वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुकूल है। **हुमायूँ कबीर** के शब्दों में "गांधी जी की राष्ट्र को बहुत सी देनों मे से नवीन शिक्षा के प्रयोग की देन सर्वोत्तम है"।

वर्तमान परिस्थिति में बेसिक शिक्षा का महत्व :

1. **निर्धन ग्रामीणों के लिए महत्वपूर्ण विधि**

   भारत एक गरीब देश है। यहाँ शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार जरूरी है। निर्धनता शिक्षा के प्रचार और प्रसार में बाधक बनी बैठी है। इसके लिए बेसिक शिक्षा ही एकमात्र साधन है जिसके माध्यम से लोगों को शिक्षा प्रदान की जा सकती है।

2. **बेसिक शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा देती है**

   ग्रामीण जनता को अपनी मातृभाषा का ही भरोसा होता है। यह शिक्षा मातृभाषा पर आधारित है। इसलिए ग्रामीण जनता इसके माध्यम से विचारों को आसानी से ग्रहण और व्यक्त कर सकती है।

3. **यह शहर और गाँव के भेद को दूर करती है**

   बेसिक शिक्षा शहर और गाँव के बीच के अवरोध को दूर करेगी। यह शिक्षा शहर के लोगों द्वारा देहात के लोगों को हीन दृष्टि से देखने की प्रवृति को समाप्त कर उनके बीच की विषमताओं को समाप्त करने में सफल हो सकती है।

4. **श्रम को महत्व**

   शिक्षा में श्रम को महत्वपूर्ण स्थान देकर गांधी जी ने भारतीय समाज की आर्थिक दशा को सुधारने का नया तरीका निकाला है।

5. **समाज और विद्यालय के बीच संबंध**

   बेसिक शिक्षा समाज और विद्यालय के बीच संबंध स्थापित करती है। समाज के प्रमुख व्यवसाय को क्राफ्ट के रूप में विद्यालय में महत्वपूर्ण स्थान देने से समाज और विद्यालय में एकरूपता आ जाती है।

6. **सफल मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधि**

   बेसिक शिक्षा एक सफल मनोवैज्ञानिक विधि को प्रोत्साहन देती है। इसमें बालक को क्रियाशील रखा जाता है। अन्य विषयों का सम्बन्ध क्राफ्ट से जोड़ देने पर उनमें भी सरसता आ जाती है। यह शिक्षा उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं पर आधारित है।

गांधीजी के शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन

गांधीजी की शिक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय देन है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय जीवन को दृष्टि में रखते हुए वातावरण के अनुसार ऐसी शिक्षा योजना प्रस्तुत की जिसको कार्यरूप में परिणित करने से भारतीय समाज में एक नया जीवन आने की संभावना है। उनके शिक्षा दर्शन का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर आते है कि गांधी जी हृदय से आदर्शवादी थे। वे अपने आदर्शों को लाभकारी तथा फलदायक बनाना चाहते थे। उनकी शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवादी, आदर्शवाद एवं प्रयोजनवाद की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। आदर्शवाद गांधी दर्शन का आधार है तथा प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद उसके सहायक हैं। गांधीजी के शिक्षा-दर्शन को हम आदर्शवाद इसलिए कहते हैं क्योंकि वह जीवन के अंतिम लक्ष्य सत्य को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। प्रकृतिवाद इसलिए कहते हैं क्योंकि वह बच्चे को प्रकृति के अनुसार विकसित करना चाहता है। प्रयोजनवाद इसलिए कह सकते हैं क्योंकि वह बच्चे को उसकी रुचि के अनुसार सीखने पर बल देता है।

डॉ.एम.एस.पटेल ने भी इसी आशय की पुष्टि करते हुए लिखा है कि "दार्शनिक के रूप मे गांधी जी की महानता इस बात में है कि उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियाँ अलग और स्वतंत्र नहीं हैं वरन् वे सब मिलजुल एक हो गई हैं, जिससे ऐसे शिक्षा-दर्शन का जन्म हुआ है जो आज की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होगा तथा मानव आत्मा की सर्वोच्च आकांक्षाओं को संतुष्ट करेगा।"

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

9.बेसिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताएँ बताते हुए इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

3.10रवीन्द्रनाथ टैगोर

3.11 रवीन्द्रनाथ टैगोर

जीवन परिचय -

महान विचारक, प्रतिभाशाली कवि, अप्रतिम साहित्यकार तथा युग प्रवर्तक शिक्षा शास्त्री गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 6 मई 1861 ई. को कलकत्ता महानगरी में हुआ था। पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर महान विद्वान, गंभीर चितंक, निर्भीक समाज सुधारक तथा कठोर साधक थे। गुरुदेव का बचपन सादगी में बीता।

सन्1901 ई. में उन्होंने शांतिनिकेतन की स्थापना करके शिक्षा जगत में एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। आम के पेड़ों की सघन छाया में स्थित शान्तिनिकेतन आज भी प्राचीन गुरुकुलों की याद दिलाता है। यहीं उन्होंने शिक्षा संबंधी अनेक प्रयोग किए तथा अपनी कल्पना को साकार रूप देने का सफल एवं ठोस प्रयत्न किया । आगे चलकर सन् 1918 ई. में उन्होंने विश्व भारती की स्थापना की। विश्वभारती विश्वविद्यालय है और इसमें उच्च शिक्षा की विशेष व्यवस्था है। इस विश्वविद्यालय में संसार के विभिन्न राष्ट्रों, भाषाओं एवं संस्कृतियों से सम्बद्ध लोग पारिवारिक सदस्य की तरह रह कर शिक्षा प्राप्त करते हैं।

टैगोर का शिक्षा दर्शन तथा उसकी मुख्य विशेषताएँ (Tagores Philosophy of Education and its Characteristics) -प्रायः टैगोर के प्रकृतिवादी दर्शन को बहुत महत्व दिया जाता है। यद्यपि उनके प्रकृतिवादी दर्शन में लगभग सभी दर्शनों के कुछ तत्व समाए हुए हैं। शिक्षा का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें टैगोर के प्रकृतिवाद की छाप न पड़ी हो। यहाँ पर उनके विचारों को संक्षेप में दर्शाया गया है -

- शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education)-टैगोर प्रकृतिवादी थे। किन्तु उनका प्रकृतिवाद रूसो के प्रकृतिवाद से भिन्न था। रूसो ने समाज को सभी बुराईयों की जड़ मानकर समाज और सामाजिक जीवन का घोर विरोध किया था। किन्तु टैगोर के हृदय में समाज के प्रति प्रेम व दया का भाव था। वे समाज का उन्नयन करना चाहते थे और प्राचीन भारत की आत्मा को आधुनिक भारत की आत्मा में देखना चाहते थे। वे समाज को प्राकृतिक नियमों पर आधारित तो करना चाहते थे किन्तु आधुनिक वैज्ञानिकता एवं अतीत की धार्मिकता एवं नैतिकता से विहीन समाज को अच्छा नहीं समझते थे।
- टैगोर के शिक्षा दर्शन में रहस्यवाद भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। किन्तु उनका यह रहस्यवाद स्वस्थ एवं सबल विस्तृत था जबकि फ्रोबेल का रहस्यवाद केवल शैशव तक सीमित था। टैगोर ने रहस्यवाद को जीवन की यथार्थ भूमि पर स्थापित कर उसका विस्तार किया। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसे प्राप्त करके बालक मनुष्य के रूप में विकसित हो, न कि केवल एक अच्छा लिपिक, कृषक आदि।
- टैगोर शिक्षा के क्षेत्र मे आध्यात्मवादी थे। प्रायः प्रकृतिवाद आध्यात्मवाद का विरोध करता है। किन्तु टैगोर का प्रकृतिवाद एकांगी नहीं था, इसीलिए उनके प्रकृतिवाद की अनिवार्य परिणति आदर्शवाद में हुई और वे बच्चों में उदात्त भावनाओं को जागृत करके उन्हें आध्यात्मिक भूमि पर लाना चाहते थे। आध्यात्मिकता की बात करके टैगोर ने भारत के अतीत का सम्मान किया है।
- टैगोर उच्च कोटि के मानवतावादी थे। मानव व्यक्तित्व की गरिमा में उनका विश्वास था। वे मानव जाति का उद्धार करना चाहते थे। उन्हें बड़ा दुःख था कि मानवीय मूल्यों का तिरस्कार हो रहा है और वर्तमान युग में मनुष्य का जीवन सस्ता होता जा रहा है। उनका विश्वास था कि यह दुनिया मूलरूप में मानवीय दुनिया है। वे मानते थे कि ईश्वर को भी वहीं पर खोजना चाहिए जहाँ पर किसान हल जोत रहा हो।
- टैगोर अंतर्राष्ट्रीय अवबोध के बहुत बड़े समर्थक थे और वे बच्चों में अंतर्राष्ट्रीय भावना को जागृत करना चाहते थे। वे अपने राष्ट्र से बहुत प्रेम करते थे और भारतीय राष्ट्र की परिस्थितियों को सुधारना चाहते थे। उनकी देश-भक्ति और उनका राष्ट्र-प्रेम अंतर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक नहीं था। वे समस्त विश्व को एक समझते थे और हमें इस योग्य बनाना चाहते थे कि हम विश्व नागरिकता के प्रति सम्मान का भाव रख सकें।

1. **शिक्षा के उद्देश्य** (Objectives of Education)

- टैगोर ने अपने लेखों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप से शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा की है। उन्होंने शिक्षा में हेरफेर नामक बंगला लेख में छात्रों के दुर्बल स्वास्थ्य पर चिन्ता प्रकट की है। वे स्वस्थ शरीर को बहुत महत्व देते थे। इस दृष्टि से उन्होंने **शारीरिक विकास** को शिक्षा के एक उद्देश्य के रुप में स्वीकार किया है।
- उनके अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य **बौद्धिक विकास** होना चाहिए। पुस्तकीय शिक्षा का वे विरोध करते दिखाई पड़ते हैं तथा स्वतंत्र चिन्तन का समर्थन करते हैं। स्मृति पर अधिक भार न डालकर चिन्तन एवं कल्पना की शक्तियों का विकास आवश्यक है।
- शिक्षा समस्या में वे सच्चे अनुशासन का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति के **नैतिक एवं आध्यात्मिक** विकास पर बल देते हैं। वे युक्कों को तपस्या एवं दृढ़ भक्ति की भावना का विकास करने का परामर्श देते हैं। इस प्रकार की भावना तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास करे और अपनी आत्मा को सभी प्रकार की दासता से मुक्त करे। इस प्रकार टैगोर आध्यात्मिक विकास के लिए गुलामी को समाप्त करना बहुत आवश्यक समझते थे।

- टैगोर एक उच्च कोटि के अंतर्राष्ट्रीयतावादी थे। उन्होंने पूरब और पश्चिम का अभूतपूर्व समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनके द्वारा स्थापित विश्व-भारती सच्चे अर्थ में विश्व-भारती है। इस दृष्टि से वे शिक्षा द्वारा बच्चों में **अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण** का विकास करने में रुचि लेते हुए दिखाई पड़ते हैं।

2. **प्रकृति की गोद में शिक्षा** (Education in thelap of Nature) बच्चों की शिक्षा नगरों से दूर प्राकृतिक वातावरण में हो।

- **बालक का पूर्ण मानव के रूप में विकास -**शिक्षा ऐसी होना चाहिए जिसे प्राप्त करके बच्चा एक सम्पूर्ण मनुष्य के रूप में विकसित हो, न कि केवल एक अच्छा लिपिक कृषक आदि।
- **बालक की कलात्मक शक्तियों का विकास-** बच्चों को संगीत, चित्रकला आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए।
- **राष्ट्रीय शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध-** प्रत्येक बच्चे को शिक्षा के द्वारा भारतीय समाज की पृष्ठभूमि तथा भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराया जाना चाहिए।

3. प्रेरणादायक शिक्षण विधियाँ

- **प्रत्यक्ष स्रोतों से ज्ञान :**पुस्तकों के स्थान पर जहाँ तक सम्भव हो प्रत्यक्ष स्रोतों से ज्ञान प्राप्त करने के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए।
- **स्वतंत्र प्रयास द्वारा शिक्षा :**बालक को इस प्रकार के अवसर प्रदान किए जाएँ कि वह स्वतंत्र प्रयास द्वारा शिक्षा प्राप्त कर सके।
- **रटने की आदत का अन्त :**बालक को रटने के लिए बाध्य न किया जाए।
- **बालक की रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास :** बालक को इस प्रकार के अवसर प्रदान किए जाने चाहिए कि वह अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास कर सके।
- **सामाजिक सेवा के अवसर :**बालक को सामाजिक सेवा के अवसर मिलने चाहिए ताकि उसमें स्वशासन तथा उत्तरदायित्व के भावों का विकास हो सके।

4. **शिक्षा का माध्यम मातृभाषा -** टैगोर शिक्षा को प्रभावकारी, स्थायी और वास्तविक बानाने के लिए मातृभाषा को उसका माध्यम बनाना अत्यावश्यक मानते थे। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान कर के ही हम बच्चों में स्वतंत्र विवेचन, स्पष्ट भावग्रहण एवं प्रकाशन तथा सृजनात्मक चिन्तन का विकास कर सकते हैं। मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्रदान कर हम छात्रों में स्वसंस्कृति के प्रति प्रेम तथा राष्ट्रीय चेतना का उदय कर सकते हैं।
5. **आंतरिक एवं स्व अनुशासन-** गुरुदेव दंडनिष्ठ अनुशासन के पक्षपाती नहीं थे, बल्कि वे उसके कट्टर विरोधी थे। वे स्व अनुशासन के लिए सहानुभूतिपूर्ण एवं प्रेरक नियन्त्रण को आवश्यक मानते थे। इसलिए उन्होंने शिक्षक तथा छात्र दोनों को साथ रहने की व्यवस्था दी। चरित्रवान, ममतावान, एवं योग्य शिक्षक के सम्पर्क में रहने से बच्चों में स्वतः ही अनुशासन एवं सदाचरण के गुण विकसित होते हैं। ऐसे अनुशासन में विस्फोट अथवा विरोध के तत्व उदित नहीं होते और स्वतंत्र एवं सहानुभूति पूर्ण अनुशासित तथा योग्य मानव का स्वाभाविक विकास होता है।
6. **पाठ्यक्रम (Curriculum) -** टैगोर ने शिक्षा के मुख्य उद्देश्य को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार के विषयों और क्रियाओं को व्यापक रूप प्रदान किया है। पाठ्यक्रम के मुख्य विषय और क्रियाएँ इस प्रकार हैं -

   विषय:इतिहास, विज्ञान, प्रकृति अध्ययन, भूगोल साहित्य आदि।

   क्रियाएँ:नाटक, भ्रमण, बागवानी, क्षेत्रीय अध्ययन, प्रयोगशाला कार्य, ड्राइंग, मौलिक रचना, अजायबघर के लिए विभिन्न वस्तुओं का संग्रह आदि।

7. अतिरिक्त पाठ्यक्रम व क्रियाएँ:खेलकूद, समाजसेवा, छात्र-स्वशासन आदि।

शिल्प :हस्तकला, बुनाई, रंगाई, कागज बनाना, कताई आदि।

8.स्त्री शिक्षा:टैगोर संकुचित विचार के शिक्षाशास्त्री नहीं थे। वे बालक तथा बालिकाओं की सहशिक्षा को उनके स्वभाविक विकास के लिए आवश्यक मानते थे। इसीलिए विश्व-भारती में उन्होंने सहशिक्षा की व्यवस्था की। उन्होंने भारतीय शिक्षा को एकांगी पाया और भारतीय समाज के सम्यक विकास के लिए स्त्री शिक्षा को परमार्थक बताया। शान्ति निकेतन में बालिकाओं के लिए विद्यालय की भी व्यवस्था की। प्रौढ़ शिक्षा के लिए उन्होंने नियमित पाठशालाओं को चलाने की व्यवस्था की। इस प्रकार गुरुदेव की शिक्षा दृष्टि अत्यन्त ही पैनी तथा विस्तृत थी।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

10. टैगोर के शिक्षा दर्शन की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।

3.11 स्वामी विवेकानन्द

जीवन परिचय :-

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, सन् 1863 ई. में कलकत्ता के एक प्रमुख दत्त परिवार में हुआ था। इनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था तथा परिवार में इन्हे 'नरेन' कहकर पुकारते थे। इनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त बांग्ला के साथ-साथ अंग्रेजी तथा फारसी के उत्कृष्ट विद्वान थे। वे इतने उदार तथा दानी थे कि दूसरों के अपराधों को क्षमा कर देते थे तथा अभाव में पड़े हुए व्यक्तियों को धन से सहायता करते थे। स्वामी विवेकानन्द की माँ भुवनेश्वरी देवी धार्मिक प्रवृत्ति की थीतथा उन्हें रामायण एवं महाभारत कंठस्थ थे। आचरण की पवित्रता तथा ईश्वर भक्ति के संयोग से उनका व्यक्तित्व दीपक की तरह प्रज्वलित रहता था। बालक नरेन को अपनी माता के चरणों में बैठकर महाभारत तथा रामायण की प्रेरक कथाओं को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बालक नरेन्द्र बुद्धि, व्यक्तित्व, परिश्रमशीलता तथा निर्भयता में अन्य बालकों से कहीं आगे थे। बचपन से ही वे साधुओं के प्रति आदरभाव रखते थे। वे नटखट थे, किन्तु परिश्रमी तथा प्रथमकोटि के अध्ययनशील विद्यार्थी भी थे। वस्तुतः नरेन्द्र निर्भीक, साहसी, प्रबुद्ध तथा चरित्रवान थे।

नरेन्द्र की साधना, तपस्या तथा भक्ति अत्यन्त उच्च कोटि की थी और यही कारण था कि रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें अपना प्रधान शिष्य बनाया। परमहंस ने अपने संदेश के प्रसार हेतु नरेन्द्रको ही माध्यम चुना। सन्1893 में स्वामी विवेकानन्द विश्व भ्रमण पर निकल पड़े। अमेरिका के शिकागो नगर में रोमन कैथोलिक ईसाइयों द्वारा आयोजित धर्म सम्मेलन में उन्होंने भाग लिया।11 सितम्बर 1893 को दिये गये उनके व्याख्यान ने सभी को अत्यधिक प्रभावित किया।14 जुलाई 1902 की रात्रि में स्वामी जी केवल 39 वर्ष की आयु में इस संसार को छोड़कर चल गये।

स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक विचार :

स्वामी जी के दार्शनिक विचारों को निम्नलिखित बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता हैः

1) वेदान्त दर्शन में विश्वास : स्वामी विवेकानन्द वेदान्त दर्शन में विश्वास करते थे। वेदान्त के तीन रूप हैं- द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत। स्वामी जी अद्वैतवादी थे। उनके मतानुसार द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत, अद्वैत की अनुभूति ही है। स्वामी जी ईश्वर में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान, निराकार और एक है। उनका मानना था कि ईश्वर अनन्त अस्तित्व, अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द है। ये तीनों एक ही हैं। उनके शब्दों में, "बिना ज्ञान और प्रेम के स्थायित्व नहीं हो सकता, ज्ञान बिना प्रेम और प्रेम बिना ज्ञान नहीं हो सकता। हमें स्थायी ज्ञान और आनन्द की अनंतताओं में साम्य की आवश्यकता है। यही एकता प्राप्त करना तो हमारा अन्तिम लक्ष्य है।"

2) मनुष्य की महत्ता में विश्वास: स्वामी जी मानव में बहुत विश्वास और आस्था रखते थे। उनको मनुष्य में ईश्वरीय सत्ता की अधिकतम अभिव्यक्ति मिलती थी। उनके अनुसार मनुष्य परमात्मा का अंश है उसकी प्रकृति आध्यात्मिक है, वह ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना हैऔर उसमें आध्यात्मिक स्वरूप को समझने की अद्भुत शक्ति है।

3) आत्मानुभूति में विश्वास:स्वामी जी के मतानुसार मनुष्य आत्मधारी हैऔर आत्मा का अन्तिम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति या आत्मानुभूति या आत्मज्ञान या मुक्ति या मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार है। इसलिये मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी यही होना चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग आवश्यक है। उनके अनुसार योग सभी प्रकार के ज्ञान की सर्वोत्तम विधि है।

4) आध्यात्मिकता में विश्वास: स्वामी जी का आध्यात्मिकता में गहरा विश्वासथा। उनकी मान्यता थी कि यदि हमने आध्यात्मिकता का आधार त्याग दिया तो उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा, ऐसे में हमारी पीढ़ियाँ जातीय अस्तित्व के संकट में आ सकती हैंजिसका परिणाम सर्वतोन्मुखी सत्यानाश है। एक ही मार्ग शेष है कि हम अपने प्राचीन पूर्वजों से चली आ रही अमूल्य विरासत व आध्यात्मिकता को पकड़ कर मजबूत बने रहें।

5) मानव सेवा की भावना में विश्वास :स्वामी जी यह मानते थे कि मानव सेवा से बढ़कर अन्य कोई धर्म नहीं है। वे मानव में ही ईश्वर के दर्शन करते थे। इसी कारण वे मानव सेवा को ही ईश्वर की सेवा कहते थे। "जो प्रत्यक्ष हैं, पहले उनकी सेवा की जानी चाहिये। उसी की सेवा में ईश्वर की सेवा है।" उनका विश्वास था कि जैसे कोई साधू आत्मानुभूति के माध्यम सेब्रह्मदर्शन कर लेता है, वैसे ही मनुष्यइसे प्राणी मात्र में दर्शन करने लगता है। अतः मनुष्य को अपना जीवन प्रत्येक प्राणी की सेवा में लगा देना चाहिये। स्वामी जी का यहविश्वास उनकी विश्वबंधुत्व की भावना को दर्शाता है।

6) निर्भीकता, सत्यता और स्वतंत्रता में विश्वास: स्वामी जी मानव जीवन में निर्भीकता सत्यता और स्वतंत्रता को आवश्यक मानते थे। उन्होंने हृदय की शुद्धता और सत्यता पर बल दिया है। वे कहते हैं कि ईश्वर हृदय के माध्यम से ही हमको संदेश देता है। उन्होंने कहा कि भीरू, मलिन और उदासीन व्यक्ति अपने जीवन में किसी कार्य को नहीं कर सकता। उन्होंने मनुष्य को वीर, उद्यमी, निर्भीक और स्वतंत्र विचारों वाला बनने पर बल दिया। उनके शब्दों में -"वीर बनो, हमेशा कहो, 'मैं निर्भय हूँ' सबसे कहो 'डरो मत', भय मृत्यु है भय पाप है, भय नर्क है, भय अधार्मिकता है तथा भय का जीवन में कोई स्थान नहीं है।"

विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ :-

स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कभी भी उसे परिभाषित नहीं किया। एक बार उन्होंने मुस्कराते हुए कहा था- "मैं किसी बात की कभी परिभाषा नहीं करता हूँ। फिर भी शिक्षा की व्याख्या शक्ति के विकास के रूप में की जा सकती है।" स्वामीजी के अनुसार मानव में कुछ शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। शिक्षा इन्हीं शक्तियों का विकास है। व्यक्ति के अन्दर उपस्थित गुणों का विकास करना ही तो वास्तविक शिक्षा है। स्वामीजी ने शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए शिक्षा की सबसे अच्छी परिभाषा की। "शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए- मनुष्य में अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति'। उनके ये शब्द आजभीशिक्षाशास्त्रियों के लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं Education is the manifestation of the perfection already present in man.यह पूर्णता बाहर से नहीं आती है वरन् मनुष्य के भीतर छिपी रहती है। सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य की आत्मा में निहित रहता है। शिक्षा उसका विकास एवं परिष्कार मात्र करती है। शिक्षा मानव को मानवीय गुणों से सम्पन्न करती है। शिक्षा के द्वारा ही मानव में देवत्व के गुणों का विकास होता है।

सच तो यह है कि शिक्षा मानव को पशु से अलग करती है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि शिक्षा मानव के अन्दर विचार एवं चिन्तन शक्ति का विकास करने में सक्षम है। पशु में विचार एवं चिन्तनशक्ति का सर्वथा अभाव होता है। मानव समुदाय में भी जो शिक्षित नहीं हैं उनमें चिन्तन शक्ति का विकास नहीं हो पाता। फलस्वरूप वे मनुष्य रूप में पशुवत् ही रह जाते हैं। इसके विपरीत सही रूप में शिक्षित मानव चिन्तन शक्ति से सम्पन्न होता है तथा वह जीवन के कार्यक्षेत्र में पूर्ण विवेक से काम लेता है। इस प्रकार वास्तविक शिक्षा विचार शक्ति एवं विवेक की जननी है।

सब मिलाकर मन, आचरण तथा चरित्र के परिष्कार का ही नाम शिक्षा है। परिष्कृत मन, आचरण तथा चरित्र ही तो सच्चे मानव का निर्माण करते हैं। वस्तुतः शिक्षा मानव जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाती है निम्नगामी नहीं। अतः स्वामीजी के अनुसार सहृदय, सच्चरित्र, निर्भीक, सक्षम एवं विवेकशील मानव की निर्माण प्रक्रिया को ही वास्तविक शिक्षा की संज्ञा दी जा सकती है।

विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य :-

1) आन्तरिक शक्तियों का विकास:स्वामीजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मानव के अन्दर सभी प्रकार की शक्तियाँ जन्मजात होती हैं। वे उनके अन्दर छिपी रहती हैं-अंकुर रूप में। शिक्षा का परम उद्देश्य है शक्तियों का विकास कर देना, परिष्कार कर देना। उनकी दृष्टि में सभी बालक ईश्वरीय शक्ति से पूर्ण हैं। उनमें अपार क्षमता का भंडार है। शिक्षा उस क्षमता के भंडार का द्वार खोल देती है। अतः शिक्षा की सार्थकता मानव के आंतरिक गुणों के विकास प्रस्फुटन एवं परिष्कार में है।

2) मानव निर्माण:शिक्षा का महान उद्देश्य है, मानव का सम्यक् - स्वाभाविक निर्माण। वह शिक्षा ही क्या जिसको पाने के उपरांत इंसान हैवान बन जाए। वस्तुतः सबल, सक्षम, सुविकसित तथा प्रबुद्ध मानव का निर्माण ही तो शिक्षा का मूल उद्देश्य हो सकता है। दुर्बल अक्षम तथा बुद्धिहीन मानव तो समाज एवं देश के लिए भार स्वरूप ही होते हैं। उनसे समाज का भला किसी भी रूप में नहीं होता है। वर्तमान शिक्षा की सबसे बड़ी विडम्बना है कि वह व्यक्ति को विषयों का ज्ञान तथा सूचनाएँ तो देती है, किन्तु उसमें मानवोचित क्षमता तथा गुणों का सम्यक् विकास करने में असफल है। अतः सच्चे मानव का निर्माण करने वाली शिक्षा की ही देश को अपेक्षा है।

3) चरित्र निर्माण:-चरित्रहीन मानव में आत्मा नहीं होती, वह निष्प्राण होता है। कहा भी है- यदि धन गया तो कुछ नहीं गया, यदि स्वास्थ्य गया तो कुछ गया और यदि चरित्र गया तो समझो सब कुछ चला गया। चरित्र व्यक्ति की आंतरिक शक्ति का परिचायक है। चरित्र से निर्भीकता, दृढ़ निश्चय तथा मानसिक शक्ति का विकास होता है। चरित्र ही मनुष्य को वैयक्तिक विशिष्टता प्रदान करता है। अतः चरित्र निर्माण शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है।स्वामीजी ने कहा भी हैकि मानव की समस्त प्रवृत्तियों का समष्टि रूप ही चरित्र है।शिक्षा प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है।

4) इच्छा शक्ति का विकास :यह सर्वविदित है कि मानव एक मांस पिण्ड मात्र नहीं है। केवल शारीरिक शक्ति का मनुष्य के जीवन में कोई विशेष मूल्य नहीं है। जहाँ तक शारीरिक विशालता एवं शक्ति का सम्बन्ध है, पशु मानव से कहीं अधिक बढ़-चढ़कर है। हाथी, बाघ, सिंह, घोड़े आदि की शक्ति के प्रसंग में भी मनुष्य की शक्ति नहीं आती। अतः यह स्पष्ट है कि मानव की वास्तविक शक्ति है, उसकी इच्छा शक्ति। इसी शक्ति के बल पर तो मानव ने आज प्रकृति, पशुबल, गति, दूरी आदि को अपनी मुट्ठी में कर रखा है। अब तो अपनी अदम्य इच्छा शक्ति के बल पर वह चाँद की छाती पर भी घूम आया है। अतः स्वामीजी ने कहा कि शिक्षा का परम उद्देश्य है इच्छा शक्ति का विकास।

5) हृदय पक्ष का विकास :- यह स्पष्ट है कि मात्र शारीरिक अथवा इच्छा शक्ति के विकास से ही शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। शिक्षा की सार्थकता तो हृदय पक्ष के विकास में है। हम सभी जानते हैं कि रावण तथा हिरण्यकश्यप की शारीरिक, मानसिक तथा इच्छा शक्तियों का पूर्ण विकास हुआ था किन्तु उनके हृदय पक्ष का विकास 'न' के बराबर हुआ था। फलस्वरूप समस्त मानवता को त्रस्त होना पड़ा। वहीं राम में हृदय पक्ष की प्रबलता थी। इसी से तो शबरी, निशाद आदि की ममता को मूल्य देने में वे समर्थ हो सके। हृदय पक्ष के विकास से ही दुखियों के दुखों, गरीबों की दिक्कतों, दलितों की वेदनाओं तथा बीमारों की पीड़ाओं की अनुभूति सम्भव है। मानव समाज के दीन, दुःखी, पीड़ित तथा दलित व्यक्तियों की सेवा में हम अपनी समस्त शक्ति लगाने को तत्पर हो सकते हैं। जिसके पास हृदय है, वहीं ईश्वर के विशाल अस्तित्व की अनुभूति करता है। इस प्रकार हृदय की शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है।

6) विशिष्ट ज्ञान :यह सही है कि ज्ञान के विकास से हम अपनी दृष्टि को विशाल कर पाते हैं। इससे आत्मशक्ति भी प्राप्त होती है। किन्तु मात्र उस ज्ञान का उतना बड़ा मूल्य नहीं होता जो केवल रोटी पैदा करने में सहायक हो। हमें तो उस ज्ञन की भी उतनी ही ज्यादा आवश्यकता है,जिसके सहारे हम सत्य का अनुभव करते हैं, विश्व की एकता की अनुभूति करते हैं विश्वबंधुत्व की भावना का विकास करते हैं तथा शाश्वत सत्य का दर्शन करते हैं। शिक्षा का लक्ष्य इस ज्ञान की प्राप्ति भी है।

7) विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान का विकास :आधुनिक विश्व में विज्ञान ने मानव जीवन में प्रवेश कर लिया है। वैयक्तिक से लेकर सामाजिक जीवन तक के समस्त पक्ष इससे प्रभावित हैं। उसे हम दरकिनार अथवा नजर अंदाज नहीं कर सकते। विज्ञान की उपलब्धियों एवं उसकी प्रगति के साथ अपने को सम्बद्ध करना आधुनिक जीवन के लिए अत्यावश्यक हो गया है। इसी प्रकार तकनीकी ज्ञान जैसे इंजीनियरिंग आदि भी आज मानवीय प्रगति एवं विश्व संरचना के लिए अत्यावश्यक हो गया है। विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान जहाँ हमें दक्षता, क्षमता तथा दृढ़ता प्रदान करते हैं, वहीं आधुनिक समाज उनकी सहायता से प्रगति करता है, समृद्धि प्राप्त करता है अथवा सम्मान का पात्र बनता है। आधुनिक सुख तथा निर्माण के साधन की प्राप्ति भी तो विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान से ही सम्भव है। अत: आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान का विकास भी है।

8) मानवीय गुणों का विकास :- मानव में यदि मानवीय गुणों का विकास न हुआ तो वह पशुवत है। मानवीय गुणों में विशिष्ट है आत्मविश्वास का गुण। इसके बिना मानव किसी काम को करने में असमर्थ होता है। इसके बिना नेतृत्वशक्ति का अंकुरण ही नहीं हो सकता। जिसमें आत्मशक्ति ही नहीं, वह नेतृत्व क्या कर सकेगा। उदारता, ममता, निर्भीकता, निष्पक्षता, निर्णय शक्ति आदि ऐसे गुण हैं जिनको पाकर ही मानवता सार्थक होती है।अन्याय के सम्मुख जो नहीं झुका वही सही अर्थों में शिक्षित है। अत: इन गुणों के विकास में ही शिक्षा की सार्थकता है।

9) विचार शक्ति का विकास: आज की शिक्षा में सामान्यतः रटना तथा विभिन्न प्रकार की सूचनाओं को बिना समझे याद कर लेना प्रधान हो गया है। सच तो यह है कि कुछ विषयखण्डों को रटकर परीक्षाओं में उत्तर लिखना तथा कागजी डिग्रियाँ प्राप्त कर लेना मात्र ही आज शिक्षा का उद्देश्य रह गया है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य तो मानव में महान विचारशक्ति का विकास करना है विचारशक्ति का वरदान ही मानव को पशु से उच्चतर स्थान प्रदान करता है।

विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के तत्व:-

क) ज्ञान मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है :- वस्तुतः मनुष्य में कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता। वह तो उसके अन्दर ही मूल रूप में स्थित होता है। शिक्षा के द्वारातो उस शक्ति का अनावरण,प्रस्फुटन तथा विकास होता है। इसीलिए तो स्वामीजी ने कहा भी है- मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्ति प्रदान करना ही वास्तविक शिक्षा है।

सच तो यह है कि समस्त ज्ञान मनुष्य के मन में है। शिक्षा के द्वारा उसके ऊपर का आवरण ज्यों-ज्यों हटता जाता है, वह ऊपर चला आता है। जिस मनुष्य के मन में यह आवरण जितना कम हट पाता है,वह अज्ञान के अंधकार में भटकता रह जाता है। शिक्षा की उपयोगिता यहीं उपस्थित होती है। चकमक पत्थर में प्रकट रूप से अग्नि नहीं दिखाईपड़ती और न वह क्रियाशील ही हो सकती है। किन्तु तीव्र घर्षण को पाकर उसमें छिपी अग्नि प्रस्फुटन के रूप में प्रकट हो जाती है। वह किसी पदार्थ को जला सकने में समर्थ है। यही अवस्था मानव की है। उसमें भी ज्ञानाग्नि छिपी होती है। मानव मन के अंदर समस्त ज्ञान आवरण में सुप्तावस्था में रहते हैं, किन्तु शिक्षा द्वारा वह अनावरण होते ही जागृत होकर प्रकट हो जाते हैं। शिक्षा का वास्तविक तत्व इसी प्रकिया में निहित है।

ख) बच्चे स्वयं सीखते हैं : वस्तुतः हम में से प्रत्येक अपने आपके सिखाने का कार्य करता है। बाहर के गुरू तो केवल सुझाव देते हैं, प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे तो अंतस्थ गुरू को मात्र उद्बोधन प्रदान करते हैं। विषय अथवा ज्ञान हमारे अनुभव तथा विचारशक्ति द्वारा स्पष्ट से स्पष्टतर होते जाते हैं। सच तो यह है कि उनकी अनुभूति हम अपनी आत्मा में करने लगते हैं। वटवृक्ष के नन्हें बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है। माली तो मात्र अनुकूल मिट्टी हवा पानी अथवा बाह्य पोषण देता है। बढ़ने, फैलने, तथा फलने का कार्य तो वह बीज स्वयं करता है। इसी प्रकार बच्चे भी स्वयं सीखते हैं। गुरू तो मात्र उद्बोधन तथा अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है।

ग) स्वतन्त्र अवसर :आज बच्चों को पीट-पीट कर तथा उस पर अनावश्यक दबाव डालकर हम शिक्षित करता चाहते हैं। यह न केवल अन्याय है, बल्कि अमानवीय भी है। इस प्रकार शिक्षा प्रदान भी नहीं की जा सकती। एक कथा है, किसी ने एक व्यक्ति को सलाह दी कि गधे को पीटने से वह घोड़ा बन सकता है। गधे के मूढ़ मालिक ने अपने गधे को इतना पीटा कि वह मर ही गया। उसे न घोड़ा बनना था न वह बना। इसी प्रकार बच्चों को पीटकर शिक्षित बनाने की प्रक्रिया में उनकी आत्मिक हत्या हो जाती है। माता पिता के अनुचित दबाव बच्चों के स्वाभाविक विकास के शत्रु होते हैं। अतः बच्चों के अन्दर निहित असंख्य प्रवृत्तियों तथा शक्तियों का स्वाभाविक रूप से विकसित होने का स्वतंत्र अवसर प्रदान किया जाए। यही सही शिक्षा है।

घ) विधायक विचार :- बच्चों की समुचित शिक्षा के लिए हमें उनके सामने विधायक विचार रखना चाहिए। उनके सामने कभी भी निषेधात्मक विचार नहीं रखना चाहिए। वह बहुत ही घातक होता है। ऐसा देखा भी जाता है कि जहाँ माता पिता पढ़ने लिखने के लिए सदा अपने बच्चों के पीछे लगे रहते है और कहा करते हैं कि तुम कभी कुछ भी नहीं सीख सकते गधे बने रहोगे। वहां बच्चे सचमुच में वैसे ही बन जाते हैं। वस्तुतः बच्चों को आवश्यक उत्साह तथा सहानुभूति प्रदान करने से उनकी उन्नति निश्चित है। यदि हम उनके समक्ष विधायक विचार रखें तो उनमें मनुष्यत्व आएगा और वे अपने पैरों पर खड़ा होना निश्चित रूप से सीख सकेंगे।

च) स्वाधीनता, विकास की पहली शर्त : वस्तुतः स्वाधीनता ही विकास की पहली शर्त है। यदि कोई यह कहने का दुस्साहस करता है कि मैं इस नारी या इस बच्चे का उद्धार करूंगा, तो वह गलत है। दूर हट जाओऔर देखोगे कि वे अपनी समस्याओं को स्वयं हल कर लेंगे। सच तो यह है किप्रत्येकमानव भगवान का ही स्वरूप है। अतः सही समझ और मानवमात्र की सेवा करो। यह सेवा पूजा भाव से होगी तो स्वाधीन वातावरण में बच्चों का पूर्ण विकास सम्भव होगा वास्तविक शिक्षा का आलोक फैल सकेगा।

पाठ्यक्रम :पाठ्यक्रम के विषय में स्वामी विवेकानन्द जी के विचार अत्यन्त व्यापक थे। उनके पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है-

1. पाठ्यक्रम में निषेधात्मकता नहीं होनी चाहिए।
2. पाठ्यक्रम में सत्य का समावेश होना चाहिये।
3. बालकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम में परिवर्तन किये जाने चाहिये।
4. पाठ्यक्रम को सदैव उच्च नैतिकता और आदर्शों से युक्त होना चाहिये।
5. पाठ्यक्रम बालक की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने में सहायक होना चाहिये।
6. पाठ्यक्रम में विज्ञान की शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये।
7. पाठ्यक्रम में क्रियात्मक कार्यों को सम्मिलित किया जाना चाहिये।
8. पाठ्यक्रम में शारीरिक प्रशिक्षण का भी महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये।
9. पाठ्यक्रम किसी रोजगार की शिक्षा देने वाला होना चाहिये।

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार पाठ्यक्रम में उन सभी विषयों को सम्मिलित किया जाना चाहियेजो कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक है, वे हैं - वेद, उपनिषद, पुराण, दर्शन, धर्म, उपदेश, साधु-संगति, कीर्तन आदि। लौकिक उन्नति के लिये उन्होंने जो विषय बतलाये हैं, वे हैं- भाषा, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, अर्थशास्त्र, गणित, कला, कृषि, प्राविधिक विषय, व्यावसायिक विषय, व्यायाम, खेल-कूद, समाजसेवा आदि। स्वामी जी ने पाठ्यक्रम में मातृभाषा के साथ-साथ संस्कृत भाषा, आंग्ल भाषा और पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन पर भी बल दिया है। उन्होंने संगीत के अध्ययन को भी महत्वपूर्ण माना और धार्मिक शिक्षा को पाठ्यक्रम में स्थान देने पर बल दिया।

शिक्षण विधि:स्वामी विवेकानन्द ने ज्ञान प्राप्त करने के लिये मन की एकाग्रता को अति आवश्यक माना है। उनके अनुसार एकाग्रता ही वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी समस्त शक्तियों का विकास कर सकता है। मन की एकाग्रता से ही मनुष्य में आत्म विश्वास और स्थिरता आती है। रसायनशास्त्री अपनी प्रयोगशाला में मन की सम्पूर्ण शक्तियों को एकाग्र करके ही सफलता प्राप्त करता है। ज्योतिषी एकाग्रता के द्वारा ही दूरदर्शी यन्त्र के माध्यम से ही तारागणी का निरीक्षण करता है, कला, संगीत आदि में कुशलता मन की एकाग्रता से ही आ सकती है। एकाग्रता जितनी अधिक होगी, ज्ञान उतना ही अधिक प्राप्त होगा। स्वामीजी के शब्दों में, चाहे विद्वान अध्यापक हो, चाहे मेधावी छात्र हो चाहे अन्य कोई भी हो, यदि वह किसी विषय को जानने की चेष्टा कर रहा है तो उसे मन की एकाग्रता से ही कार्य लेना पड़ेगा।"

मन की एकाग्रता के लिये ब्रह्मचर्यआवश्यक है। ब्रह्मचर्य समस्त शिक्षा का आधार है। ब्रह्मचर्यसे बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है, वासनाओं पर विजय होती है, स्मृति शक्ति का विकास होता है, प्रबल कार्य शक्ति प्राप्त होती है, अमोल इच्छा शक्ति विकसित होती है और पवित्रता का भाव जागृत होता है। स्वामीजी ने विद्यार्थियों के लिये ब्रह्मचर्य को आवश्यक बताया और इसका अभ्यास करने पर बल दिया। उन्होंने कहा था कि बारह वर्षों तक अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले व्यक्ति के मस्तिष्क पर एक बार पढ़ी या सुनी बात अमिट संस्कार छोड़ जाती है।

स्वामी जी के अनुसार-"बालक को स्वाभाविक ढंग से सीखने का अवसर देना चाहिये। उसमें ज्ञान को ठूँसना नहीं चाहिये। बालक अपने आपको शिक्षित करता है। पर तुम उसे अपने ही ढंग से आगे बढ़ने में सहायता दे सकते हो। तुम जो कुछ कर सकते हो, वह निषेधात्मक ही होगा, विधिधात्मक नहीं। तुम केवल बाधाओं को हटा सकते हो। और बस ज्ञान अपने रूप से प्रकट हो जायेगा। जमीन तैयार कर दो ताकि उसमें बीज उगना आसान हो जाए। उसके चारों ओरघेरा बना दो और देखते रहो कि कोई उसे नष्ट न कर दे। उस बीज से उगते हुए पौधे की शारीरिक बनावट के लिए मिट्टी, पानी और समुचित वायु का प्रबन्ध कर सकते हो और बस यहीं तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार जो भी आवश्यक होगा समझ लेगा।वह अपनी प्रकृति से ही सबको बचा बैठेगा। बस ऐसा ही बालक की शिक्षा के बारे में है। बालक स्वयं अपने आपको शिक्षित करता है।"

स्वामीजी ने शिक्षण विधि के क्षेत्र में विचार-विमर्श, वाद-विवाद, विश्लेषण, चिन्तन और तर्क पर भी बल दिया। उन्होंने कहा कि शिक्षक को विद्यार्थियों में जिज्ञासा और कौतुहल उत्पन्न करना चाहिये और उनकी शंकाओं का समाधान करना चाहिए। उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ, अवसर और समस्याएँ प्रस्तुत करनी चाहिए जिसमें वे विचार-विमर्श कर सके वाद-विवाद कर सकें, चिन्तन कर सकें, विश्लेषण कर सकें, और तर्क-वितर्क कर सकें। इससे वे ज्ञान प्राप्ति की बाधाओं को दूर करने में सफल होंगे।

स्वामीजी ने पुस्तकीय शिक्षण पर बल नहीं दिया। उनके अनुसार पुस्तक पढ़ने की अपेक्षा सुनने और देखने से अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिए उन्होंने शिक्षण में कहानियाँ सुनने, धर्मोपदेश सुनने और भ्रमण करने पर अधिक बल दिया।स्वामीजी ने उपदेश और व्याख्यान द्वारा विभिन्न तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने पर भी बल दिया। स्वामीजी ने शिक्षण विधि के क्षेत्र में स्वानुभव तथा रचनात्मक कार्यों द्वारा ज्ञान ग्रहण करने पर भी बल दिया है। उन्होंने कहा कि यदि भाषा और साहित्य, काव्य और कला एवं अन्य विषयों में केवल सूचनायें न देकर बालकों को रचनात्मक कार्य करने का मार्ग दिखाया जाये तो अधिक श्रेयस्कर होगा।स्वामीजी ने बालकों को सुझाव देने के लिए व्यक्तिगत निर्देशन और परामर्श विधि के प्रयोग को भी आवश्यक बताया।

अनुशासन :स्वामी विवेकानन्द शिक्षा व्यवस्था में अनुशासन को बहुतमहत्वपूर्ण स्थान देते थे। वे शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों को ही अनुशासित देखना चाहते थे। अनुशासन से उनका तात्पर्य केवल बाह्य व्यवस्था से ही नहीं है वरन् वे सयंम और आत्म नियंत्रण पर बल देते हैं। उनके अनुसार विद्यार्थी को स्वमुशासन से सीखना चाहिये। स्वामीजी के अनुशासन सम्बन्धी विचार प्रकृतिवाद से मिलते-जुलते हैं। स्वामीजी का कहना था कि विद्यार्थियों को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए और न ही उन पर अनुचित दबाव डाला जाना चाहिये। इससे उनके विकास के अवसर अवरुद्ध हो जाते हैं। इसलिए उनको पर्याप्त स्वतंत्रता दी जानी चाहिये और सहानुभूति के साथ सीखने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिये।

शिक्षक तथा शिष्य:स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में शिक्षक का अर्थ है-गुरू गृहवास। वस्तुतः शिक्षक अर्थात् गुरू के व्यक्तित्व का प्रभाव छात्र के जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। जैसा शिक्षक, वैसा शिष्य। शिक्षक का वैयक्तिक आचरण शिष्य के जीवन का निर्माण करता रहता है। अतएव शिक्षक का चरित्र अग्नि के समान जाज्वल्यमान होना आवश्यक है। जिस शिक्षक के चरित्र में ऊष्मा तथा प्रकाश नहीं, वह अपने शिष्य के चरित्र में प्राण तथा प्रकाश का समावेश कैसे कर सकता है। शिक्षक का त्यागी तथा अध्ययनशील होना भी उतना ही अनिवार्य है। जो त्याग नहीं कर सकता है,वह विद्या का दान क्या कर सकता है।

प्राचीन गुरुकुल प्रथा में शिक्षक ममतावान, त्यागी, परोपकारी, विद्वान तथा सशक्त होते थे। शिक्षकों के लिए वही आदर्श अपेक्षित है। इन गुणों से विभूषित व्यक्ति ही गुरू बनने का अधिकारी है। इन आवश्यक गुणोंके होते हुए भी जिस शिक्षक के हृदय में शिष्य के प्रति सच्ची सहानुभूति का अभाव होता है वह कदापि शिक्षक नहीं हो सकता। वस्तुतः सच्ची सहानुभूति के बिना शिक्षक अच्छी एवं प्रभावकारी शिक्षा चाहे भी तो नहीं देसकता है। सच्चा शिक्षक वह है जो अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सके। सच्चा शिक्षक शिष्य से अपना एकात्म स्थापित कर सकने में सफल होता है।

शिष्य : शिष्य के लिए आवश्यक है मन, वचन एवं आचरण की शुद्धता। इसके अतिरिक्त उसमें ज्ञान की सच्ची पिपासा तथा लगन के साथ परिश्रम करने की क्षमता का होना न केवल महत्वपूर्ण है, बल्कि अनिवार्य भी।अटूट लगन एवं निरन्तर अभ्यासशिष्य को शिक्षा के उच्चतम शिखर पर ले जाते हैं। शिक्षा की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि शिष्य में गुरू के प्रति अटूट विश्वास हो। विनयशीलता तथा श्रद्धाके बिना छात्र की साधना कदापि सफल नहीं हो सकती है। गुरुभक्ति जागरूक और उदबुद्धहोनी चाहिए, अंधभक्ति नहीं। इन कतिपय आवश्यक गुणों से युक्त शिष्य ही वास्तविक रूप से शिक्षा प्राप्त करने में सफल हो सकते हैं।

विवेकानन्द की दृष्टि में स्त्री शिक्षा :हमारे देश में वेदान्त ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा विराजमान है। इस नाते स्त्रियों तथा पुरुषों में किसी प्रकार के भेद की गुंजाइश ही नहीं है। किन्तु व्यावहारिक रूप से देखा जाता है कि हमारे देश में शिक्षा, समाज तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्त्रियों तथा पुरुषों में बहुत ही भेद बढ़ा जाता है। पुरुषों ने हमेशा से ही स्त्रियों को पीछे ढकेल रखा है। यह स्थिति बड़ी ही भयावह और चिंतनीय है।वस्तुतः आज सभी उन्नत राष्ट्रोंने स्त्रियों को समुचित सम्मान देकर ही महानता प्राप्त की है। जो देश, जो राष्ट्र स्त्रियों का आदर नहीं करते, वे कभी बड़े नहीं हो सकते। यथार्थ शक्तिपूजक तो वह है जो स्त्रियों में ईश्वर की शक्ति का प्रकाश देखता है। यह सर्वविदित है कि-

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

आज स्त्रियों की अनेक समस्याएँ हैं। उन समस्याओं के समाधान का अवसर स्वयं स्त्रियों को ही प्रदान करने की आवश्यकता है। स्त्रियों को उपयुक्त स्वस्थ्य तथा स्वतंन्त्र वातावरण में शिक्षा देनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा, चरित्र गठन तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन स्त्री शिक्षा के मुख्य अंग होंगे। भारतीय स्त्री जाति के लिए 'सीता'आदर्श होनी चाहिए। सीता में हम पूर्ण विकसित नारीत्व का साक्षात् दर्शन करते हैं। आज हमारी नारी को सीता के गुणों से विभूषित होना है और इन गुणों का स्त्रियों में समावेश ही सच्ची नारी-शिक्षा है।

त्याग का गुण आज स्त्री शिक्षा का मूलाधार होना चाहिए । जिसमें त्याग का गुण नहीं आया, वह नारी आदर्श नहीं हो सकती है। इतना ही नहीं उसमें शारीरिक स्वास्थ्य और आत्मरक्षा की क्षमता का भी पूर्ण विकास होना चाहिए। इसके अतिरिक्त बौद्धिक विषयों के साथ-साथ स्त्रियों में लौकिक दक्षता एवं कुशलता का भी होना आवश्यक है। इस प्रकार स्त्री शिक्षा का बड़ा ही उदार स्वरूप स्वामीजी ने उपस्थित किया है।

जन समूह की शिक्षा :आज समाज के गरीब तथा मजदूर वर्ग के लोगों की दशा अत्यन्त ही दयनीय है। उन्हें भोजन नहीं मिलता और वह अधःपतन के गर्त में दिन- प्रतिदिन गिरते ही जा रहे हैं। हम उनके प्रति जागरूक नहीं हैं। यह वस्तुतः पाप है। सही शिक्षा तो गिरे हुए जन समाज को उठाना है उनमें आत्मविश्वास एवं गौरव की वृद्धि करना है। अतः जनसमूह की शिक्षा ही उनकी मुक्ति का एक उपाय है।

जनसमूह को शिक्षा की सार्थकता प्रदान करने के लिए शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाना होगा। तभी तो उन्नत विचारों को उन तक सुगमतापूर्वक पहुँचाया जा सकता है। इस शिक्षा को पूर्णता प्रदान करने के लिए उन्हें संस्कृत की शिक्षा भी देनी चाहिए। इस प्रकार आध्यात्मिक सत्य को उनकी पहुँच के भीतर लाया जा सकता है। वे तभी अपने को पहचान सकेंगे अपनी क्षमता से परिचित हो सकेंगे।

हमारे राष्ट्र की आत्मा झोपड़ियों में निवास करती है। अतः शिक्षा के दीपक को घर-घर ले जाना होगा, तभी तो समस्त जन समाज उदबुद्ध हो सकेगा। उन्हें कर्म की शिक्षा दी जाए। यही तो वास्तविक जीवन की शिक्षा है। शिक्षा मन्दिर का द्वार सर्व साधारण के लिए खोल दिया जाए। शिक्षा मुक्त हो। दृढ़ लगन और कर्म की शिक्षा ही जन समूह की सच्ची शिक्षा है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

11. स्वामी विवेकानंद के अनुसार शिक्षा का क्या उद्देश्य होना चाहिए।

3.12 जिद्दू कृष्णमूर्ति

प्रस्तावना :- आधुनिक युग के महान दार्शनिक और श्रेष्ठ चिंतक जे कृष्णमूर्ति का जन्म सन1895 में हुआ था। उन्होंने आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा के आधार पर अपने दर्शन को स्पष्ट किया। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के साथ वे जीवनभर प्रयत्नशील रहे और सन 1986 में वे इस नश्वर संसार से चले गये।

जे कृष्णमूर्ति क्रांतिकारी विचारक थे। उन्होंने हर प्रकार की बाह्य प्रामाणिकता (Authority) का निषेध किया, चाहे वह व्यक्ति की हो, या पुस्तक की या परंपरा की। उनका विचार था कि किसी व्यक्ति, ग्रंथ या परंपरा द्वारा हमें सत्य या यथार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा। वे धार्मिक संप्रदायों और संगठनों के भी विरुद्ध थे, क्योंकि ये सत्य की प्राप्ति में हमारी सहायता नहीं कर सकते।

जे.कृष्णमूर्ति का दर्शनः-

1) आत्म-ज्ञान का महत्व (Importance of self-knowledge):- कृष्णमूर्ति के अनुसार हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हम स्वयं को जानें। अपने को जानने से तात्पर्य अपरिवर्तनशील, अनश्वर और चेतन आत्म-तत्व को जानना नहीं है। इसका अर्थ यह जानना है कि हम क्षण-क्षण क्या हैं अर्थात् हम विभिन्न क्षणों में जो अनुभव करते हैं, सोचते हैं, कार्य करते हैं,उन्हे हमें जानना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम सजग और ध्यान-युक्त रहें। अपने को पूरी तरह से जानने के लिए सदैव अपना निरीक्षण करते रहने की जरूरत है।

2) ध्यान और एकाग्रता (Meditation and Concentration):- वह ध्यान और एकाग्रता के मध्य अंतर करते हैं। एकाग्रता ऐसा ध्यान है, जिसके लिए व्यक्ति विशेष संकल्पपूर्वकप्रयत्न करता है। वह किसी वस्तु पर कुछ समय के लिए अपना मन लगाने का प्रयत्न करता है। कृष्णमूर्ति यथार्थ को जानने के लिए एकाग्रता को अस्वीकार कर देते हैं। एकाग्रता मानसिक द्वंद्व या संघर्ष उत्पन्न करती है। द्वंद्व से चित्त अशांत हो जाता है। अशांत मन को यथार्थ की सम्यक् चेतना नहीं हो सकती।

ध्यान के द्वारा सत्य की चेतना हो सकती है। ध्यान इच्छा-शक्तिरहित और प्रयासविहीन होता है। किसी वस्तु की ओर ध्यान देने का अर्थ है, मन का उस पर बिना इच्छा-जन्य प्रयत्न के लगना। कृष्णमूर्ति का असली मतलब यह है कि किसी क्षण केवल चेतना विशेष का अस्तित्व है। तब ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय का भेद लुप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई एक फूल देखता है। क्षणभर वह उसका रंग देखता है, फिर उसका ध्यान उसकी खशबू की ओर चला जाता है। अगले क्षण वह किसी चिड़िया की चहचहाहट सुनता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसे जानबूझ करवह चुनाव नहीं करना चाहिए कि वह किस चीज की ओर ध्यान दे तथा किसी ओर ध्यान न दे, न ही उसे किसी एक चीज पर अपने मन को केन्द्रित करना चाहिए।

ध्यान मन की सचेष्ट और प्रयोजनमूलक क्रिया है। ध्यान के द्वारा मन किसी वस्तु विशेष पर कुछ समय के लिए केन्द्रित किया जाता है। ध्यान में व्यक्ति मन को किसी वस्तु पर टिकाने की कोशिश करता है, क्योंकि मन स्वभावतः चंचल है।अतः वह ध्यान-कर्ता के प्रयत्न के बावजूद इधर-उधर भटकता है। ध्यानकर्ता मन की भटकन को व्यवधान के रूप में लेता है, और इन व्यवधानों को दूर करने की चेष्टा करता है। ध्यान्कर्ता ध्यानकी क्रिया में जितनी प्रगति करता जाता है, व्यवधान उतने कम पड़ते जाते हैं।

3) इच्छा और चेष्टारहित (Desire and lack of mood):- जे.कृष्णमूर्ति के शब्दों में 'जब आप अपने बारे में जानते हैं, अपना निरीक्षण करते हैं, यह देखते हैं कि आप कैसे चलते हैं, किस प्रकार खाते हैं, क्या कहते हैं, गप्प, घृणा, ईर्ष्या-यदि अपने में इन सबको, बिना किसी चुनाव के देखते हैं, तो वह ध्यान का भाग है।'

4) चेतना की संपूर्णता (Completeness of Consciousness):ध्यान की अगली विशेषता चेतना की संपूर्णता है। यहाँ इंन्द्रियों का बटवारा नहीं है। व्यक्ति संपूर्ण मन से इंन्द्रियों के विभाजन के बिना, प्रस्तुत विषयों का अनुभव करता है। उदाहरण के लिए आप बगीचे का कोई फूल देखते हैं और किसी चिड़िया की आवाज भी सुनते हैं। दोनों अनुभव आपको एक साथ होते हैं। उस समय आपको उन दोनों के अंतर की चेतना नहीं होती; अर्थात् आपको इसकी चेतना नहीं होती कि मै फूल विशेष देख रहा हूँ या ध्वनि विशेष सुन रहा हूँ मात्र समन्वित अनुभव है, जिसका बोध आप पूरे मन से सावधान होकर कर रहे हैं।

5) शुद्ध अनुभूति (Pure Feelings) :- ध्यान की अवस्था में जो चेतना या अनुभूति होती है उसे शुद्ध कहा जा सकता है। इसको शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि चेतना विशेष प्रत्ययात्मक नहीं होती, यानि बुद्धि के यंत्र से विशेषित या निर्धारित नहीं होती। सामान्य अवस्था में हमारे अनुभव बुद्धि के प्रत्ययों द्वारा निर्धारित होते हैं। उदाहरणार्थ, आप कमल का फूल देखते हैं। आप जानते हैं कि यह एक विशेष प्रकार का फूल है, जिसे कमल कहते हैं। इसका विशेष रूप-रंग है। आपको इसकी भी चेतना रहती है कि आप इसे विशेष समय और स्थान में देख रहे हैं। आप यह भी जानते हैं कि कमल आपसे भिन्न और बाहर है, किंतु ध्यान की दशा में कमल का अनुभव शुद्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि मात्र कमल का अनुभव होता है। देखने वाले आप और देखने के विषय कमल का भेद नहीं रहता। दूसरे शब्दों में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है।

6) आत्मनम् विधि (Atmanam Vidhi)ध्यान करने के लिए किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं हैं। जब भी हम फुर्सत में हों, ध्यान कर सकते हैं। इसकी सहायता से हम अपने को जान सकते हैं, अपनी इस समझ के सुपरिणाम जैसे- अहम् और आसक्ति के पाशों से क्रमिक मुक्ति तथा अनासक्ति, सरलता, शान्ति, प्रेम, आनंद और करुणा के भावों में उच्चतर वृद्धि के रूप में अनुभव किए जा सकेंगे। ध्यान से मन की स्वतंत्रता में वृद्धि हो सकेगी तथा उसका स्व में सिकुड़ा दायरा विश्वाभिमुख होगा।

7) चयनविहीन चेतना (Conselective Conciousness) चेतना के चुनावरहित होने का आशय यह है कि किसी विज्ञान का चुनाव नहीं करना चाहिए। 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग यहां व्यापक अर्थ में किया गया है। विज्ञान से तात्पर्य हर एक मानसिक दशा से है, चाहे वह प्रत्यक्ष हो, या संवेग, या स्मृति, या कल्पना, या अन्य कोई चेतन अवस्था। हमें जानबूझकर कोई विज्ञान न तो मन में लाना चाहिए, न रोकना चाहिए, न मन से निकालना चाहिए। हमें धीरे-धीरे मन की वृत्ति ऐसी करनी चाहिए कि मन विज्ञान विशेष को जो इसमें किसी समय उपस्थित होता है, पूरे ध्यान के साथ ग्रहण करें। लेकिन, मन उस विज्ञान को न तो रोके, न निभाए। हमें उसकी तरफ पूरा ध्यान देना है, जब तक वह हमारे चित्त में स्वतः टिकता है। इस प्रकार की मानसिक वृत्ति सभी तरह के विज्ञानों के प्रति अपनानी है, चाहे वे सुखद हो या दुःखद।

8) ज्ञान का स्वरूप (Nature of knowledge) कृष्णमूर्ति के अनुसार चयनविहीन चेतना या ज्ञान ही शुद्ध ज्ञान है। वह विचार द्वारा प्रतिबन्धित नहीं है। यह हमारी चेतना के साधारण रूप से भिन्न है जो अधिकांशतः विचार द्वारा निर्धारित होता है। कृष्णमूर्ति ने चेतना के जिस रूप की बात की है वह न केवल किसी विज्ञान या कर्म की चुनावरहित और संपूर्ण चेतना है,बल्कि वह विचार द्वाराअनिर्धारित भी है।

9) शब्द और यथार्थ में अंतर (Difference in word and Reality) शुद्ध चेतना विचारातीत है। यह भाषा से भी परे है। शुद्ध चेतना अशाब्दिक है। कृष्णमूर्ति बलपूर्वक शब्द और यथार्थ के बीच भेद करते हैं बार-बार कहते हैं कि शब्द यथार्थ नहीं है।यथार्थ शुद्ध चेतना है जो अवक्तव्य है अर्थात् उसे व्यक्त करने का प्रयास इसकी यथार्थता को विकृत कर देगा। सत्य या यथार्थ विचारऔर भाषा दोनों से परे है।

10) वर्तमान का महत्व (Importance of present) कृष्णमूर्ति जीवन के वर्तमान को महत्वपूर्ण मानते हैं। हमारे जीवन का वर्तमान क्षण प्रिय या अप्रिय, भूत या भविष्य से संबन्धित हो सकता है, अथवा किसी ऐसी चीज से जो उस समय घट रही हो। यदि हम वर्तमान में पूरी तरह से जीते हैं तो जीने (जो वस्तुतः कोई शुद्ध चेतना है) तथा क्षण - विशेष के मध्य अंतर नहीं किया जा सकता है।

11) प्रयोजन अनावश्यक है (Unnecessary Purpose) जीवन में प्रयोजन या लक्ष्य के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि लक्ष्य में कोई-न-कोई भविष्यकालीन वस्तु पूर्वकल्पित होती है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है।

कृष्णमूर्ति का मानना है कि शुद्ध चेतना में से बुद्धिमत्ता या समझ प्रस्फुटित होती है। वह 'बुद्धिमत्ता' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में करते हैं। बुद्धि को साधारणतः विचार के संदर्भ मेंसमझा जाता है। कृष्णमूर्ति के अनुसार बुद्धिमत्ता विचार से भिन्न है। यह प्रत्यययात्मक, युक्तिपूरक या विश्लेषणात्मक नहीं है। यह एक प्रकार की अपेक्षा और प्रयासविहीन समझ है जो द्वंद्व और उलझनरहित है। बुद्धिमान व्यक्ति प्रज्ञ है।

जे. कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन

शिक्षा का महत्व (Importance of Education) कृष्णमूर्ति ने नई पीढ़ी की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने खेद प्रकट किया कि वर्तमान काल में अधिकतर बालक अपने माता-पिता का सम्मान नहीं करते; वे उनकी नहीं सुनते । ऊन्हें कोई परवाह नहीं कि वे क्या चाहते हैं। वे अपने माता-पिता के चिंतन के प्रतिमान अपनाना नहीं चाहते हैं। कृष्णमूर्ति के अनुसार उसका कारण बालकों का पालन-पोषण है। उनको प्रारंभ से ही सही शिक्षा, सही प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए, परंतु कृष्णमूर्ति परंपरावादी नहीं थे। उन्होंने कहा कि हमें एक ऐसी पीढ़ी का निर्माण करना चाहिए जो निर्भय हो, जो भूत से सहमत न हो, जिनमें बुद्धि हो और जो विवेक से काम ले सक्ती हो। वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए कृष्णमूर्ति ने कहा कि हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है क्योंकि उसमें ज्ञानार्जन पर अत्यधिक जोर दिया गया है। वह जीवनुकूल समाज को समझने के लिए पर्याप्त संवेदनशीलता और बुद्धि का विकास नहीं करती। वास्तविक शिक्षा को न केवल ज्ञानार्जन के योग्य बनाना है बल्कि संसार की ओर वस्तुगत (Objective) तरीके से देखना सिखाना है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education) :-

"वास्तविक रूप से शिक्षित होने का अर्थ करोड़ों-करोड़ों जो कर रहे हैं, उससे अनुरूपता, उसका अनुकरण करना नहीं है। यदि तुम वह करना चाहते हो तो करो। परंतु जो कुछ तुम कर रहे हो उसके प्रति जागृत रहो।" कृष्णमूर्ति ने नौजवानों से कहा कि शिक्षा का लक्ष्य नई पीढ़ी को एक नए प्रकार के जीवन के लिए तैयार करना है। शिक्षा न तो ज्ञानार्जन है, न परीक्षाएँ पास करना है, और न डिग्रियाँ लेना और योग्यताएँ बटोरना है। कृष्णमूर्ति के शब्दों में- "यह जानते हुए कि जीविकोपार्जन करना है, जिम्मेदारियों को निभाना है, उस सब का दुःख उठाना है। शिक्षा को तुम्हें बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से संसार का सामना करने में सहायता करनी चाहिए। जब मानव संसार में फैली अव्यवस्था के प्रति जागरूक हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। यही वास्तविक शिक्षा है।" कृष्णमूर्ति के अनुसार वास्तविक शिक्षा एक जबर्दस्त व्यवस्था का जीवन जीना है, जिसमें आज्ञापालन को समझ लिया जाता है, जिसमें यह जान लिया जाता है कि कहां अनुरूपता आवश्यक है और कहां वह पूर्णतया अनावश्यक है यह देख लिया जाता है कि कब आप अनुकरण कर रहे हैं।

शिक्षक की भूमिका (Role of Teacher) :-

शिक्षक की भूमिका को दो रूपों में देखा जा सकता है, पहला विषय ज्ञान प्रदान करना और दूसरा विद्यार्थी को आत्मज्ञान से प्रशस्त करना है। शिक्षा प्रक्रिया में निर्मित विषयों के ज्ञान के साथ-साथ बुद्धि के विकास और मूल प्रवृत्तियों के व्यवहार में अंतर्दृष्टि उत्पन्न की जानी चाहिए। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में यह सब नहीं होता है। निरर्थक प्रतिमान जीवन (Meaningless Standardized life) के प्रति नई पीढ़ी में विद्रोह को कृष्णमूर्ति स्वाभाविक मानते हैं।

परंतु प्राचीन भारतीय परंपरा के विरूद्ध कृष्णमूर्ति गुरू और शिष्य के संबंध को आवश्यक नहीं मानते। उन्होंने कहा है, 'शिक्षा का अर्थ है - सीखना परंतु शिक्षा का साधारणतया स्वीकृत अर्थ है - किसी का, किसी गुरू का, किसी व्यक्ति का अनुसरण करना है। ऐसी स्थिति में गुरू और शिष्य दोनों ही नहीं सीख रहे होते हैं।'

स्वतंत्रता और अनुशासन (Freedom and Discipline) :-

कृष्णमूर्ति के अनुसार सही शिक्षा की प्रक्रिया में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए ताकि मस्तिष्क के संपूर्ण सामर्थ्य का प्रयोग किया जा सके। शिक्षा को पूर्ण अवसर प्रदान करने चाहिए जिससे बालक स्वयं की अभिव्यक्ति कर सके। शिक्षित व्यक्ति को इस संसार में बुद्धिमत्ता और समझदारी का जीवन जीना चाहिए। कृष्णमूर्ति के शब्दों में 'शिक्षा हमें समझदार, अयांत्रिकऔर बुद्धिमान बनाने में सहायक होनी चाहिए।' शिक्षा बुद्धिउत्पन्न करती है, जो इस जगत में काम करती है। शिक्षा को वर्तमान जीवन की पूर्ण चेतना प्रदान करनी चाहिए। उसे हमें भूत और भविष्य के विचारों से स्वतंत्र वर्तमान में पूर्णतया स्वतंत्र बौद्धिक जीवन व्यतीत करने में सहायता करनी चाहिए। कृष्णमूर्ति के अनुसार प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को संसार को अपनी आखों से देखना अपनी बुद्धिके अनुसार विचार करना और पूर्ण स्वतंत्रता से कर्म करना आना चाहिए। उसे किसी भी गुरू, संस्था, पुस्तक, विचारधारा का अंधानुसरण नहीं करना है। उसे आत्मस्थित होकर स्वयं अपनी बुद्धिसे वर्तमान में रहकर जीवन जीना है।

निष्कर्ष : महान चिंतक, दार्शनिक और समाज सुधारक जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार सच्ची शिक्षा वह है जो अन्तः मन का विकास करे तथा अन्तः चेतना जागृत करे। शिक्षा के द्वारावे मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर बल देते थे तथा संवेदनशीलता, सृजनात्मकता, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि का विकास शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। उन्होंने शिक्षा द्वारा बच्चों में नई संस्कृति और नए मूल्यों का निर्माण करने की क्षमता को विकसित करने पर बल दिया है। उन्होंने शिक्षा के द्वाराआत्मज्ञान, आत्म चेतना, आत्मबोध के सम्प्रत्यय को परिभाषितकिया। उन्होंने पाठ्यचर्या में विज्ञान, तकनीकी, व्यावसायिक प्रशिक्षण, कलाऔरसंगीत को स्थान दिया है। अनुशासन एवंस्वतंत्रता आत्मज्ञानकेलिएआवश्यक है।शिक्षक पूर्ण एकीकृत मानव होना चाहिए। उसे बच्चों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। शिक्षक को बच्चों पर पूर्व निश्चित मूल्य एवं सिद्धांत थोपने नहीं चाहिए। उनके अनुसार विद्यालय का वातावरण शांत होना चाहिए। उनके इन्हीं आध्यात्मिक विचारों के आधार पर कृष्णमूर्ति फाउन्डेशनकी स्थापना की गई है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

12. जे. कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन को स्पष्टकीजिए ।

3.13 श्री.अरविन्द घोष

जीवन परिचय :-

अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त सन् 1872 ई. को कोलकाता में हुआ। उनके पिता कृष्णधन घोष पाश्चात्य सभ्यता से बहुत अधिक प्रभावित थे इसी प्रभाव के कारण अरविन्द को 7 वर्ष की आयु में ही शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वे बड़े ही प्रतिभाशाली छात्र थे। उन्होंने अपने अध्ययन काल में लैटिन ग्रीक तथा यूरोप की अन्य प्रमुख भाषाओं जैसे- जर्मन, फ्रैंच आदि भाषाओं का व्यापक ज्ञान प्राप्त किया। 1892 ई. में अरविन्द भारत लौटे और बड़ौदा राज्य के गायकवाड नरेश महाराज सयाजीराव के यहाँ तेरह वर्ष नौकरी करने बाद वे बड़ौदा कॉलेज में अध्यापन कार्य करने लगे तथा उस कॉलेज के वाइस प्रिन्सिपल के पद पर भी रहे।

1901 ई. में इनका विवाह मृणालिनी देवी नामक सुकन्या से हुआ। 1905 ई. में बंगाल-विभाजन के विरोध स्वरूप उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया, और कलकत्ता आकर राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय हो गये। 4 मई सन् 1908 में 'अलीपुर बम काण्ड में भाग लेने के आरोप में उन्हें एक वर्ष के लिए अलीपुर जेल मेंरखा गया। 13 अप्रैल 1909 को जेल से छूटने के बाद अरविन्द भारत छोड़कर 4 अप्रैल को फ्रेंच उपनिवेश पाण्डुचेरी चले गये। 1926 ई. में अरविन्द आश्रम की स्थापना हुई। कुछ समय बाद इस आश्रम का नाम "आश्रम स्कूल" रखा गया और धीरे-धीरे अरविन्द विश्वविद्यालय के नाम से प्रख्यात हो गया, पाण्डुचेरी में ही श्री. अरविन्द चालीस वर्ष तक सर्वांगयोग की साधना करते रहे। मानवता को आध्यात्मिकता का ज्ञान देते हुए तथा मानव जाति की सेवा करते हुए 5 दिसम्बर 1950 को इस महायोग ने महासमाधि ले ली।

श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन :- श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक साधना, योग एवं ब्रह्मचर्य को अधिक महत्व दिया। वे हमेशा विकास के सिद्धांत पर विश्वास करते थे। श्री अरविन्द का मानना था कि मानवता विश्वात्मा एवं परमात्मा तीनों ही परम् सत्य हैं। श्री अरविन्द ने दार्शनिक विचारों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया।

1) अति मानव:- अन्य दर्शनों में जिसे परमतत्व, ईश्वर एवं गीता में जिसे पुरुषोत्तम कहा गया है उसे ही अरविन्द ने अति मानव कहा है। इस अति मानव द्वारा सम्पूर्ण जगतमें होनेवाली प्रक्रिया का नियन्त्रण होता है। सामान्य मनुष्य मन, प्राण, आत्मा, शरीर आदि के भेदभाव केआवरण को हटाकर अपने में उपस्थित वास्तविकता को पहचान सकता है, और सत्, चित्, आनन्दस्वरूप अति मानव का साक्षात्कार कर सकता है।

2) पुरुष:- प्रत्येक मानव में एक आत्मा होती है जो अमर होती है। बार-बार जन्म लेकर मानव अति मानव की चेतना को प्राप्त करने का सतत् प्रयास करता है। प्रत्येक मानव कीएक व्यक्तिगत आत्मा होती है जो कि परमात्मा का ही रूप होती है इसलिए पुरुष समाज की एकता को ध्यान में रखने वाला व्यक्ति है।

3) योग:- अरविन्द ने अपनी पुस्तक 'लाइफ डिवाइन' में लिखा है कि "योग व्यक्ति में छिपी हुई शक्तियोंद्वारा विधि और नियम के अनुसार आत्मपूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास करता है।"

मनुष्य और प्रकृति दोनों की उत्पत्ति समान रूप से हुयी है दोनों सत्य एवं वास्तविक हैं। मनुष्य एवं प्रकृति दोनों में योग सिद्धांत उपलब्ध है। अरविन्द ने योग अष्टांग का अभ्यास आवश्यक बताया है। इसके द्वाराउच्चतर तत्व का आवरण होता है इसके लिए प्रेम, शक्ति, आत्म-समर्पण, विवेक एवं कर्म करना आवश्यक है।

श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन :-

श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन आध्यात्मिक साधना, ब्रह्मचर्य तथा योग पर आधारित है। जिस शिक्षा पद्धति में तीनों पक्ष होंगे उसी से मनुष्य का पूर्ण विकास होगा। सच्ची शिक्षा वह है जो बालक के स्वतंत्र, क्रियात्मक, बौद्धिक, नैतिक तथा सौंदर्यात्मक शक्तियों को विकसित करके उसके आध्यात्मिक विकास में सहायता प्रदान करे।

सर्वांग शिक्षा का आधार :- श्री अरविन्द की धारणा थी कि जीवन में ज्ञान सदा सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहता है। शिक्षा का आधार अन्तःकरण है। अरविन्द के अनुसार अन्तःकरण के चार प्रकार हैं।

1) चित्त (Chitta)
2) मानस (Manas)
3) बुद्धि (Intellect)
4) ज्ञान (Knowledge)

1) चित्त- जब हम कोई बात याद करते हैं तो वह जाकर चित्त में एकत्र होती है। चित्त वह है जिसकी सहायता से क्रियाशील स्मरण शक्ति समय पर आवश्यक वस्तु की खोज निकालती है। कभी-कभी यह चुनाव सही भी होता है और कभी गलत भी।

2) बुद्धि- यह मस्तिष्क की तीसरी सतह है। इसका कार्य मस्तिष्क में एकत्रित हुयी ज्ञान सामग्री को सुनियोजित और सुव्यवस्थित करना है। इसके कार्य को रचनात्मक, आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक तीन वर्गों में बाँटा गया है। अरविन्द बुद्धि को शिक्षा के लिए बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। अरविन्द का मानना है कि शिक्षकों का यह कर्तव्यहै कि वे बच्चों की बुद्धि के इन दोनों अंगो कोसमान रूप से प्रशिक्षित व विकसित करें।

विकास के स्तर- श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य की उर्ध्युक्त शक्तियों से चित्त, मानस, बुद्धि तथा ज्ञान में क्रमिक विकास होता है। शिक्षा का स्तर ऐसा हो जो अन्तःकरण के इन चारों स्तरों का अधिक विकास कर सके।

अरविन्द के अनुसार केवल ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा नहीं होती वरन् सच्ची शिक्षा वह है जो मनुष्य की छिपी हुयी शक्तियों को विकसित करके उसका पूर्ण विकास करती है। "एक आध्यात्मिक आन्तरिक स्वतंत्रता ही एक पूर्ण मानव व्यवस्था उत्पन्न कर सकती है।" सामाजिक विकास का आधार आध्यात्मिकता की प्राप्तिहै। आध्यात्मिक जीवन जीने वाले पुरुष तो मिल जाते हैं, पर सम्पूर्ण समाज का आध्यात्मिक रूपान्तरण करने की आवश्यकता है।

अरविन्द के शिक्षा दर्शन के निहितार्थ

अरविन्द के शिक्षा दर्शन के निम्नांकित निहितार्थहो सकते हैं-

1) शिक्षा बालक की रुचियों और मनोवृत्तियों के अनुकूल होना चाहिए।

2) वास्तविक शिक्षा वह है जो व्यक्ति में छिपी हुयी शक्तियों का समुचित विकास करने में सहायक हो।

3) मनुष्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। (सत्व, रज, तम) सत्व एक प्रकाश है, जिसके द्वाराज्ञान का उद्घाटन किया जाता है। अध्यापक का कार्य है कि वह बालक के सत्व को उदघाटित करे, रज को अनुशासित करे और तम को दूर करे।

4) शिक्षा का केंद्र बालक है। शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास द्वारा उसे पूर्ण मानव बनाना चाहिए।

5) शिक्षक एक सहायक, पथप्रदर्शक एवं मित्र होना चाहिए।

6) ज्ञानेंद्रियों का प्रशिक्षण आवश्यक है। सम्पूर्ण आध्यात्मिक शिक्षा बच्चे के स्वभाव तथा मनोविज्ञान के अनुकूल होनी चाहिए।

7) पूर्ण योग के लिए पूर्ण शिक्षा की आवश्यकता है। पूर्ण शिक्षा प्राप्त मनुष्य जातिदेश आदि से ऊपर उठकर मानव जाति के कल्याण की कामना करने लगता है।

8) शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। इसके द्वारा तपस, तेजस, विघुट एवं ओजस में जितनी ही वृद्धि होगी व्यक्ति उतना ही शरीर, मन, हृदय और आत्मा से शक्तिपूर्ण होगा।

9) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिए।

10) शिक्षा में ऐसे विषय होने चाहिए जो बच्चों के व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने में सहायक हों।

11) जीवन का वास्तविक लक्ष्य अहम् भाव से ऊपर उठकर स्वयं को पहचाननाहै।

सर्वांग शिक्षा का अर्थ -

अरविन्द का कहना है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय शिक्षा की रूपरेखा में परिवर्तन तो अवश्य हुआ है पर वह पर्याप्त नहीं है। शिक्षा की आवश्यकता भविष्य की आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए जो बालक की आन्तरिक शक्तियों का विकास करे।

सर्वांग शिक्षा के उद्देश्य - शिक्षा का लक्ष्य बालक की शक्तियों का विकास करते हुए व्यक्तिवाद और समाजवाद को निकालकर मानवतावादी एवं समग्रवादी बनाना है। इस विशिष्ट मस्तिष्क की अनुभूति करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। "शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए - विकसित होने वाली आत्मा का विकास करना, जो उसमें उत्तम है, उसे व्यक्त करना तथा उसे श्रेष्ठ कार्य के लिए पूर्ण बनाना।

अरविन्द के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1) शारीरिक विकास एवं शुद्धि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का शारीरिक विकास और शुद्धि है। उनका विश्वास था कि- "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" (शरीर के माध्यम से ही धर्म की साधना होती है।) इसलिए शरीर का सन्तुलित विकास और उनकी शुद्धि आध्यात्मिक विकास के लिए परम् आवश्यक है।

2) ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण: व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं। ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण उनके उचित प्रयोग पर निर्भर करता है। इसके निम्न तीन साधन अपनाये जा सकते हैं:

1. बालकों के ध्यान को विषय की ओर केन्द्रित करना।
2. तामसिक भाव को दूर करना।
3. अभ्यास।

3) मानसिक विकास: शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य मानसिक शक्तियों का विकास करना है बालक की मानसिक शक्ति विशेष रूप से तर्क, कल्पना, स्मृति, चिन्तन आदि का विकास बालक की रुचियों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए।

4) नैतिक विकास: नैतिक शिक्षा बालक के विकास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जब तक व्यक्ति का पर्याप्त नैतिक विकास नहीं होगा तब तक वह मानव जाति का कल्याण नहीं कर सकता। उन्होंने मनुष्य के नैतिक क्किास को तीन भागों में बाँटा है: संवेग, आदतें और संस्कार।

5) आध्यात्मिक विकास: आध्यात्मिक विकास के द्वारा ही मनुष्य पूर्ण मानव बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा केरूप में ईश्वरीय अंश को खोजना, विकसित करना तथा पूर्णता की ओर ले जाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

6) विशिष्ट क्षमताओं का विकास: प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ विशिष्ट क्षमता या योग्यता अवश्य होती है। शिक्षा का उद्देश्य है कि वह इन विशिष्ट क्षमाताओं का विकास करे। शिक्षा का प्रारूप ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति में उपलब्ध क्षमताओं का स्वाभाविक रूप से विकास हो सके जिससे बालक अपने जीवन के हर लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सके।

पाठ्यक्रम - अरविन्द ने पाठ्यक्रम निर्माण के निम्न सिद्धांत बताये हैं:

1. पाठ्यक्रम रोचक हो तथा उसमें बालक को आकर्षित करने की शक्ति हो।

2. पाठ्यक्रम के विषयों में व्यावहारिकतथा आध्यात्मिक विकास की क्षमता हो साथ ही जीवन की क्रियाशीलता के गुण भी होने चाहिये।

3. पाठ्यक्रम का प्रारूप इस तरह का हो कि वह बालक की रुचि को विश्व ज्ञान की ओर प्रेरित कर सके।

<u>सर्वांग शिक्षा की शिक्षण विधि</u>

श्री.अरविन्द घोष के द्वारा बतायी गयी शिक्षा पद्धतियों के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांत हैं -

1) शिक्षण में बच्चों की स्वतंत्रता पर बल - शिक्षक को अध्यापन में बच्चों को स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिये। जब तक बच्चे अध्यापन में पर्याप्त स्वतंत्रता महसूस नहीं करेगा तब तक उसका पढ़ने मेंमन नहीं लगेगा।

2) बालकों को स्वानुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करना - अरविन्द ने स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल दिया और रटने की विधि का विरोध किया। जो कि उसके लिए और समाज के लिए अधिक स्थायी और लाभप्रद होते हैं।

3) बच्चों के मनोभावों एवं रुचियों का अध्ययन- प्रत्येक बच्चे के मनोभावों एवं रुचियों का अध्ययन करें और उन व्यक्तिगत विभिन्नताओं को ध्यान में रखते हु ये कर्म करें, तभी बच्चा पढ़ने में रुचि लेगा।

4) क्रिया द्वारा सिखाना- आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी इसी विधि के समर्थक हैं। इसमें बालक क्रियाशील रहकर स्वयं के प्रयास और अनुभव से जो भी सीखता है वह व्याख्यान आदि अन्य विधियों से नहीं सीख सकता है इससे बच्चे अधिक स्थायी और प्रभावशाली बनते हैं।

5) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा- बच्चे पर माता-पिता द्वारासिखाई गयी भाषा का अधिक असर होता है। अपनी मातृभाषा के माध्यम से पढ़ने में बच्चे को नया ज्ञान समझने में विशेष सुविधा होती है। यदि इससे विपरीत कोई अन्य भाषा ग्रहण करता है तो उसकी अधिक शक्ति खर्च होगी और उससे वह पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

6) विभिन्न विषयों का अध्ययन- अरविन्द का मानना था कि प्रत्येक बच्चे में कल्पनाशक्ति निहित होती है। उसमें तरह-तरह की कहानियाँ, देशभक्ति और वीरता के किस्से, सुनने की लालसा होती है। बच्चे की जिज्ञासा शान्त करने के लिए उसे जगत के विभिन्न रूपों का ज्ञान कराना चाहिए और इसके साथ-साथ कला शिक्षा भी दी जानी चाहिये।

7) पाठ्य-पुस्तक विधि द्वारा शिक्षण- अरविन्द हमेशा नयी-नयी शिक्षा विधियों पर जोर देते थे।उनका मानना था कि बच्चे में रटने की प्रवृत्ति को तो प्रोत्साहननहीं देना चाहिये लेकिन उनके ज्ञान के विस्तार के लिये उन्हें अच्छी पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। किसी भी विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने में पुस्तकें अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं।

8) सहयोगी विधि द्वारा शिक्षा- जब कोई भी कार्य परस्पर सहयोग से किया जाता है तो कार्य रुचिकर हो जाता है। साथ ही एक दूसरे के अनुभवों का लाभ उठाने का अवसर प्राप्त होता है एवं सामाजिकता की भावना का विकास होता है।

अनुशासन- शिक्षक का कार्य बच्चों को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देकर उसका मार्ग-दर्शन करना है। शिक्षकों को बालकों के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये जिसका अनुसरण बच्चे करें। मानव की आध्यात्मिक उन्नति में अनुसरण का महत्व है तथा योग की प्रथम कड़ी अनुशासन ही है। इसे तीन भागों में बांटा गया है:

1. शिक्षक- सफल शिक्षक को अपने विषय का ज्ञान और अनुभव होना चाहिये। वह छात्रों को ज्ञान ही नहीं देता अपितु वह उसे यह बताता है कि ज्ञान को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। एक सफल शिक्षक को अपने विषय के साथ-साथ आध्यात्म और योग का भी पूरा ज्ञान होना चाहिये। शिक्षक का आत्मविश्वास इतना पूर्ण होना चाहिए कि वह बच्चों को स्वयं ही प्रेरित करे।

2. छात्र - बच्चों पर किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं थोपना चाहिये। वरन् उसकी रुचि,जिज्ञासा, स्वभाव और बुद्धि के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये।

3. विद्यालय- अरविन्द का मानना है कि बच्चों को अपनी योग्यता अनुसार प्रवेश लेने का अवसर दिया जाना चाहिये। विद्यालयों का वातावरण विश्वबन्धुत्व की भावना से पूर्ण होना चाहिये। विद्यालय में बच्चे के ऊपर किसी भी प्रकार का बन्धन या रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। विद्यालय सभी धर्म, संस्कृति और ज्ञान की प्राप्ति करने में सहायक हो। उसमें जाति, रंग, धर्म, आदि के आधार पर किसी तरह का भेदभाव नहीं होना चाहिए।

<u>धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा</u>

महर्षि अरविन्द ने नैतिक और धार्मिक शिक्षा को बहुत अधिक महत्व दिया है। नैतिकता और भावनात्मकता रहित शिक्षा मानव जाति को कभी भी प्रगति की ओर नहीं ले जा सकती। उनका मानना था की पाठ्यक्रम में इन दोनों प्रकार की शिक्षा को उचित स्थान मिलना चाहिये। धार्मिक शिक्षा के लिए उन्होनें साधना, योग, ब्रह्मचर्य, एवं आध्यात्मिक आत्मपरीक्षण को जरूरी माना है।

<u>श्री अरविन्द की शिक्षा की देन</u>

शिक्षा के क्षेत्र में अरविन्द ने अपने बहुमूल्य विचारों का ही नहीं वरन व्यावहारिक योगदान भी दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान उनके शैक्षणिक विचारों का साकार रूप 'अरविन्द आश्रम' को समझा जा सकता है।

अरविन्द आश्रम -

1910 ई. में अरविन्द ने फ्रेंच उपनिवेश पाण्डुचेरी में इस आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम का उद्देश्य कोई सुनियोजित शिक्षा प्रदान करना नहीं वरन अध्ययन, चिंतन और मनन के द्वारा संसार के कल्याण के लिए कार्यक्रम निर्धारित

करना था।

1920 ई. में एक फ्रांसीसी महिला मीरा रिचर्ड (दि मदर) वहाँ आकर रहने लगी। उसी समय से आश्रम में रहने वालों की संख्या बढ़ती गयी।इस आश्रम में संसार के कोने-कोने से आकर लोग आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करते थे। इस आश्रम में जाति, धर्म, लिंग, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता आदि का भेदभाव नहीं था।

अरविन्द ने आश्रमवासियों के बच्चों के लिए 1943 ई. में एक स्कूल की स्थापना की। इसमें आज विभिन्न देशों, धर्म, और जातियों के 300 से अधिक बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इन्होंनेस्कूल को दो भागों में बांटा -जूनियर औरमाध्यमिक।

आश्रम के शिक्षक आश्रमवासी साधक हैं। इन्हें किसी भी प्रकार का वेतन नहीं दिया जाता है, वल्कि उनके परिवार की सभी आवश्यकताओं को आश्रम द्वारा पूरा किया जाता है।

1952 ई. में अरविन्द अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र की स्थापना की गयी, अरविन्द विश्वविद्यालय केन्द्र में शिशु की शिक्षा से लेकर अनुसंधान कार्य तक की व्यवस्था है। वर्तमान समय में लगभग 15 देशों के छात्र यहाँ पर शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। आश्रम में स्वयं का प्रेस है। प्रेस के लिए कागज भी यहीं पर बनाया जाता है। इस तरह से आश्रम आत्मनिर्भर है। इस आश्रम की शिक्षा निःशुल्क है।

उपसंहार :-

वर्तमान समय में आध्यात्मिक शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है।अरविन्द ने सबसे अधिक बालकेन्द्रित शिक्षा पर बल दिया।उनका मानना था कि बच्चे को शिक्षा उसकी मातृभाषा के माध्यम से दी जानी चाहिये। बच्चे को अपनी रुचियों के विकास की स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिये।उन्होंने पाश्चात्य दर्शन की अच्छाइयों को लेकर भारतीय संस्कृति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया।उनके अनुसार ईश्वर, देश, समाज और अपने लिए जीना ही धर्म है।शिक्षा के क्षेत्र में उनका बहुमूल्य योगदान पाण्डुचेरी में स्थित अरविन्द आश्रम है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है।उनका मानना था कि एकांकी विकास से व्यक्ति का एवं समाज का पतन हो जाता है।श्री अरविन्द की शिक्षा जगत को एक महत्वपूर्ण देन है-"पूर्व और पश्चिम का मिलन"।आज की भौतिकवादी सभ्यता में व्यवहारिक सुधार लाने के लिए अरविन्द के सुझाव बहुमूल्य है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए :-

13. श्री अरविंद के अनुसार पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधि व अनुशासन की विवेचना कीजिए।

3.14 गिजू भाई

जीवन परिचय :

गिजू भाई का पूरा नाम गिरजाशंकर भगवान जी बधेका था। उनका जन्म सौराष्ट्र के चितलगाँव में 15 नवम्बर सन् 1885 को हुआ था। प्रारम्भ में वे वकील थे। वकालत छोड़कर वे शिक्षा जगत में आये तथाबच्चों के धुरन्धर वकील बन गए। सन् 1916 से 1939 तक वे शिक्षा के क्षेत्र में बाल-केंद्रित शिक्षा के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे। उनका विश्वास था कि शिक्षा बच्चों के लिए है, न कि बच्चे शिक्षा के लिए। वे बच्चों के प्रति संवेदनशील रहे। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में शिक्षा को बच्चों की मौलिक निधि के रूप में उजागर किया। वे बाल-किशोरों की शिक्षा के साथ-साथ प्रौढ शिक्षा के भी प्रबल समर्थक थे। 23 जून 1939 ई. को 54 वर्ष की उम्र में उनका निधन हुआ।

<u>गिजू भाई का साहित्य</u> :

- **शिक्षा साहित्य :-** गिजू भाई की शिक्षा सम्बन्धी 15 मौलिक रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त अपने अन्य साथियों के सहयोग से उन्होंने लगभग 223 पुस्तकें लिखीं थीं। उनका साहित्य गुजराती में है। उसका अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। उनका साहित्य बाल मनोविज्ञान, शिक्षा-शास्त्र एवं किशोर साहित्य से संबन्धित है।
- **शिक्षण पत्रिका**

  माता-पिता और शिक्षक-शिक्षिका का सही मानस बनाने के लिए गिजू भाई ने गुजराती में एक छोटी 'शिक्षण-पत्रिका' निकाली थी इस पत्रिका ने बाल-संगोपन, बाल-शिक्षण, बाल-संस्कार और बाल-जीवन के मर्म की जो शिक्षा दी, उससे हजारों परिवारों में प्रकाश फैला। इस साहित्य में जो मौलिकता, मर्मस्पर्शिता, सरलता, प्रेरणा और प्राण हैं, उसी से गिजू भाई अविस्मरणीय रहेंगे। गुजराती की ही भाँति इस पत्रिका के मराठी और हिन्दी संस्करण भी निकलते रहे।
- **दिवास्वप्न**

  बाल शिक्षा जगत में गिजू भाई की एक अनुपम कृति है- 'दिवास्वप्न'। दिवा स्वप्न की चर्चा करते हुए गिजू भाईके एक समकालीन साथी और सहयोगी स्वर्गीय श्री हरिभाई द्विवेदी ने लिखा था- दिवास्वप्न क्या है? प्राथमिक पाठशाला की एक स्वल्प समालोचना है। यह सारी पुस्तक कहानी की शैली में लिखी गयी है।

इस गुजराती पुस्तक का पहला प्रकाशन सन् 1931 में हुआ। सन् 1934 तथा 1962 में इसके हिन्दी अनुवाद छपे। राजस्थान शिक्षा विभाग ने भी उनकी त्रैमासिक पत्रिका 'नया शिक्षक' में सन् 1948 में तथा मध्य प्रदेश शिक्षक प्रशिक्षण मण्डल ने भी सन् 1985 में अपनी 'पलाश' में इसे छापा।

बालकेंन्द्रित शिक्षा

गिजू भाई की आत्मा में बच्चों के लिए असीम प्यार तथा शिक्षा देने की सहानुभूति थी। वे शिक्षा को बालकेंन्द्रित स्वरूप देकर सम्प्रेषण के पक्षधर थे। उनका शिक्षा दर्शन सीधा-सादा बाल-दर्शन था। इसी कारण उनकी शिक्षा पद्धति बालकेन्द्रित बन गयी थी। गिजू भाई ने बच्चों के हितार्थ बाल-केन्द्रित शिक्षा के महत्व को सदैव उच्च मानक पर स्थापित किया। उन्होनें बाल केन्द्रित शिक्षा की शिक्षण विधियों, अनुशासन तथा शिक्षक-शिष्य सम्बन्धों को बतलाते हुए संम्पूर्ण जीवन को एक तपस्वी के रूप में पूरा किया।

बाल केन्द्रित शिक्षा का महत्व

प्राचीनकाल में शिक्षा का उद्देश्य बच्चों के मस्तिष्क में कुछ जानकारी भरना मात्र समझा जाता था। आधुनिक शिक्षा शास्त्र के अनुसार शिक्षक को बच्चे के सर्वांगीण विकास का प्रयास करना चाहिये। इसके लिये उसे बाल मनोविज्ञान की जानकारी होनी चाहिये। इस जानकारी के बिना न तो वह बच्चे को समझ सकता है और न ही उसकी कठिनाइयों को ही दूर कर सकता है। आधुन्कि शिक्षक अपने को अधिक से अधिक आकर्षक और सुगम बनाना चाहता है। कुशल अध्यापक बनने के लिए उसे यह ज्ञात होना चाहिये कि शिक्षार्थियों का मनोविज्ञान क्या है। बाल मनोविज्ञान शिक्षक को शिक्षार्थी की आवश्यकताओं तथा अन्य अनेक विषयों से परिचित कराता है।

इस प्रकार गिजुभाई ने बाल मनोविज्ञान के जिन मुख्य बिन्दुओं का अपनी शैक्षिक योजना में समावेश किया उनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

1. बच्चे को समझना (Understsnding the Child) - किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए व्यक्ति को उन लोगों के मनोविज्ञान की जानकारी होनी चाहिये, जिनसे उनका सरोकार होता है। यदि शिक्षक को बच्चों के मनोविज्ञान की जानकारी नहीं होगी तो वह उन्हें सिखायेगा ही क्या? इसीलिये जॉन एडम्स (John Adams) ने शिक्षक के लिए विषय से अधिक बच्चे की जानकारी आवश्यक मानी है। बच्चे के सम्बन्ध में शिक्षक को उसके व्यवहार के मूल आधारों, आवश्यकताओं, मानसिक स्तर, रुचियों, योग्यताओं, व्यक्तित्व इत्यादि का विस्तृत ज्ञान होना चाहिये। व्यवहार के मूल आधारों का ज्ञान तो सबसे अधिक आवश्यक है क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य ही बच्चे के व्यवहार को परिमार्जित करना है। अतः शिक्षा बच्चे की मूल प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं और संवेगों पर आधारित होनी चाहिये। व्यवहार के इन मूल आधारों को नई दिशा में मोड़ा जा सकता है, इनका शोधन किया जा सकता है और इनको बच्चे में से निकाला जा सकता है। इसलिये सफल शिक्षक इनके शोधीकरण (Sublimation) का प्रयास करता है। बच्चा जो कुछ सीखता है, उससे उसकी आवश्यकताओं का बडा़ निकट सम्बन्ध है। स्कूल में पिछड़े हुए(Backward) बच्चों में अधिकतर ऐसे होते हैं जिनकी आवश्यकतायें स्कूल में पूरी नहीं होती। इसीलिये वे सड़क पर लगे बिजली के बल्बों को फोड़ते हैं, स्कूल से भाग जाते हैं और आस-पड़ोस के लोगों को तंग करते है तथा मुहल्ले के बच्चों को पीटते हैं। मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में शिक्षक सजा (punishment) या पिटाई के द्वारा इन दोषों दूर करने का प्रयास करता है, परन्तु बच्चों को समझने वाला शिक्षक यह जानता है कि इन दोषों का मूल उनकी शारीरिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं में है। बाल मनोविज्ञान शिक्षक को बच्चों के व्यक्तिगत भेदों से परिचित कराता है और यह बतलाता है कि उनमें रुचि, स्वभाव तथा बुद्धि आदि की दृष्टि से भिन्नता पायी जाती है। अतः कुशल शिक्षक मन्द बुद्धि, सामान्य बुद्धि तथा कुशाग्र बुद्धि बच्चों में भेद करके उन्हें उनकी योग्यताओं के अनुसार शिक्षा देता है। शिक्षा देने में शिक्षक को बच्चों और समाज की आवश्यकताओं में समन्वय करना होता है। स्पष्ट है कि इसके लिए उसे बच्चे की पूर्ण मनोवैज्ञानिक जानकारी होनी चाहिये।

2. शिक्षण विधि (Teaching Method) - शिक्षा-शास्त्र शिक्षक को यह बतलाता है कि बच्चों को क्या पढा़या जाये। परन्तु असली समस्या यह है कि कैसे पढा़या जाये? इस समस्या को सुलझाने में बाल मनोविज्ञान शिक्षक की सहायता करता है। बाल मनोविज्ञान सीखने की प्रक्रिया, विधियों, महत्वपूर्ण कारकों, और हानिकारक दशाओं, रुकावटों, सीखने का वक्र तथा प्रशिक्षण, संक्रमण आदि विभिन्न तत्वों से परिचित कराता है। इनके ज्ञान से शिक्षक बच्चों की सीखने में सहायता कर सकता है। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षण की विधियों का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है और उनमें सुधार के उपाय बतलाता है।

3. मूल्यांकन और परीक्षण (Evaluation and Testing)- शिक्षण से ही शिक्षक की समस्या हल नहीं हो जाती है। उसे बच्चों के ज्ञान और विकास का मूल्यांकन और परीक्षण करना होता है। मूल्यांकन से परीक्षार्थी की उन्नति का पता चलता है। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक और शिक्षार्थी बार- बार यह जानना चाहते हैं कि वे कहाँ प्रगति कर रहे हैं और यदि उनको सफलता अथवा असफलता मिली है तो क्यों और उसमें क्या परिवर्तन किये जा सकते हैं। जहाँ शिक्षक स्वयं विद्यार्थी का मूल्यांकन करता है वहाँ उसे यह सीखने में भी सहायता करता है कि विद्यार्थी स्वयं अपनी प्रगति का निष्पक्ष रूप से मूल्यांकन कर सके। मूल्यांकन से प्रेरणाओं पर बडा़ प्रभाव पड़ता हैंजिससे उसका व्यवहार परिवर्तित होता है। सभी प्रकार की मूल्यांकन विधियाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होती हैं। बाल मनोविज्ञान से शिक्षक को किसी शिक्षण परिस्थिति में बच्चे के मूल्यांकन से ही सहायता नहीं मिलती है, वल्कि शिक्षक के रूप में अपनी योग्यता का भी पता चलता है।

4. पाठ्यक्रम (Curriculum)- समाज और व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये स्कूल के पाठ्यक्रम का विकास, व्यक्तिगत विभिन्नताओं, प्रेरणाओं, मूल्यों और सीखने के सिद्धांतों के मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित होना चाहिये। पाठ्यक्रम बनाने में शिक्षक यह ध्यान रखता है कि शिक्षार्थी की और समाज की क्या आवश्यकताएँ हैं और सीखने की कौन-सी क्रियाओं से ये आवश्यकताएँ सर्वोत्तम रूप् से पूर्ण हो सकती हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में तथा विभिन्न स्तरों पर कुछ सीखने की क्रियाएँ वांछनीय हो सकती हैं और कुछ अवांछनीय। यह निश्चित करने में शिक्षक को विकास की विभिन्न अवस्थाओं का मनोवैज्ञानिक ज्ञान होना चाहिये। संक्षेप में, क्रियात्मक होने के लिए प्रत्येक पाठ्यक्रम को एक समुचित मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित होना चाहिये। यह मनोवैज्ञानिक आधार बाल मनोविज्ञान प्रस्तुत करता है।

5. मानव सम्बन्ध (Human Relations) - बाल मनोविज्ञान ने शिक्षक को मानव सम्बन्धों को समझने में सहायता दी है। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक है। स्कूल में पहुँचकर बच्चे के सम्मुख शिक्षक उसके माता-पिता का स्थान ले लेते हैं। प्रत्येक बालक अपने सामने शिक्षक का एक आदर्श रखता है। दूसरी ओर शिक्षक भी यह सोचता है कि आदर्श शिक्षक कैसा होना चाहिए। शिक्षक सम्बन्धी विद्यार्थियों और शिक्षकों के इन शिक्षक- संबंधी आदर्शों की परस्पर अन्तःक्रिया से कक्षा का व्यवस्थापन निर्धारित होता है। शिक्षा मनोविज्ञान से शिक्षक-विद्यार्थी के परस्पर सम्बन्धों को बेहतर बनाने में सहायता मिलती है और सीखने के संवेगात्मक पहलुओं तथा सम्बन्धों के महत्व का पता चलता है। कक्षा का वातावरण शिक्षा की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह वातावरण जहाँ एक ओर शिक्षक-शिक्षार्थी के परस्पर सम्बन्धो से भी बनता है। वहाँ दूसरी ओर शिक्षार्थियों के परस्पर सम्बधों से भी बनता है। इस प्रकार प्रत्येक बच्चा एक सामूहिक परिस्थिति में विकसित होता है। बाल मनोविज्ञान कक्षा में बच्चों के परस्पर सम्बन्धों का समन्वय बनाने में शिक्षक की सहायता करता है।

स्कूल का वातावरण शिक्षक विद्यार्थी सम्बन्धों, शिक्षार्थी के परस्पर सम्बन्धों के अतिरिक्त शिक्षकों के परस्पर और शिक्षक के प्रधानाध्यापक से सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। बाल मनोविज्ञान इस दशा में भी सम्बन्धों को बेहतर बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

6. व्यवस्थापन और अनुशासन (Adjustment and Didcipline) -

सम्बन्धों के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्कूल में शिक्षार्थियों के व्यवस्थापन और अनुशासन में मनोविज्ञान की आवश्यकता अत्यधिक महत्वूर्ण है। व्यवस्थापन का अर्थ यह है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई व्यक्ति कितनी अच्छी तरह प्रतिक्रिया करता है। इसमें व्यक्ति और उसके परिवेश के सम्बन्ध का पता चलता है। इसका परम लक्ष्य मानसिक आरोग्य की पूर्ण स्थिति प्राप्त करना है। बाल मनोविज्ञान व्यवस्थापन, अनुशासन और मानसिक आरोग्य सभी पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है। अच्छे व्यवस्थापन में किसी एक में परिवर्तन न होकर दोनों में ही परिवर्तन है। उदाहरण के लिये शिक्षक और शिक्षार्थी के परस्पर व्यवस्थापन में जहाँ एक ओर शिक्षार्थी में परिवर्तन आवश्यक होते हैं, वहीं शिक्षक में भी परिवर्तन अपेक्षित हैं। इस दोहरे परिवर्तन में किसी के भी व्यक्तित्व को आघात नहीं पहुचँता और स्वस्थ व्यक्तियों का विकास हो सकता है। अनुशासन की मूल समस्यायें भी प्रेरणा की और लक्ष्यों की समस्यायें हैं। अतः उनको सुलझाने में मनोविज्ञान सहायक होता है। कभी-कभी तो कुछ शरारतें बच्चों में अच्छे समायोजन की सूचक होती हैं और शिक्षक को उन्हें दबाने के स्थान पर प्रोत्साहित करना होता है। मनोविज्ञान यह बतलाता है कि एक ही व्यवहार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रेरणाओं का कारण हो सकता है। बच्चों के व्यवहार में शिक्षक को उनके असली प्रेरक कारणों का पता लगाना है, जिससे कि वह उनमें आवश्यक रूपांतर कर सके। इस कार्य में बाल मनोविज्ञान शिक्षक की सहायता करता है।

7. प्रयोग (Experimentation)

बाल मनोविज्ञान अनुसंधान में भी सहायता करता है। शिक्षा सिद्धांत या व्यवहार में शिक्षक के सामने ऐसी अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं जिनको सुलझाने के लिये उसको नये-नये प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। शिक्षा स्वयं बहुत-कुछ शिक्षक के प्रयत्न और भूल तथा सूझ पर निर्भर है। उसमें शिक्षक सदैव कुछ बने-बनाये सिद्धांतों पर नहीं चल सकता। नयी-नयी परिस्थितियों में नयी-नयी समस्याओं को सुलझाने के लिये शिक्षक को स्वयं प्रयोग करने चाहिये और उससे निकले निष्कर्षों का उपयोग करना चाहिये। मनोविज्ञान के क्षेत्र में होने वाले नये-नये अनुसंधानों से जो नये-नये तथ्य प्रकाश में आते हैं, उनकी जाँच करने लिये भी शिक्षक को प्रयोग करने की आवश्यकता है। इस प्रकार स्कूल के दैनिक जीवन में शिक्षा सम्बन्धी अनुसंधान की भारी संभावनायें निहित हैं।

8.कक्षा की समस्याओं का निदान और निकारण (Diagnosis and Elimination of problems in the classroom)

बाल मनोविज्ञान शिक्षक को कक्षा में शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं के निदान और निराकरण में सहायता देता है। इस तरह की अनेक समस्यायें निम्नलिखित हो सकती हैं -

(अ) पिछडे हुए बच्चे की प्रगति के लिये क्या उपाय किये जायें?

(ब) विषमायोजित (maladjusted) बच्चे को सुधारने के लिये क्या विधि अपनाई जाये?

(स) बच्चों में अनुशासन हीनता को कैसे दूर किया जाये?

(द) किसी शारीरिक अथवा मानसिक रूप से पीड़ित बच्चे को किस तरह पढ़ाई के औसत स्तर पर लाया जाये?

(च) बच्चों में आत्म-प्रेरणा किस तरह उत्पन्न की जाये?

(छ) समस्याग्रस्त बच्चे को कैसे शिक्षा दी जाये?

(ज) बच्चों में यौन-सम्बन्धी अपराधों को किस तरह रोका जाये?

(झ) बच्चों में किशोरापराध की प्रवृत्तियों को कैसे सुधारा जाये?

उपयुक्त समस्याओं को सुलझाने के लिये शिक्षक को इन समस्याओं के कारणों का निदान करना पड़ेगा। इस निदान के लिये उसको मानव मनोविज्ञान का व्यापक ज्ञान होना चाहिये। निदान के साथ-साथ शिक्षक का काम इन समस्याओं का निराकरण करना भी है। इसके लिये सबसे पहले उसे अपनी शिक्षण पद्धति और सीखने की प्रक्रिया का स्वयं विश्लेषण करके उसके गुण-दोषों को समझना चाहिये। फिर उसको उन विधियों की खोज करनी चाहिये, जिनसे विशेष परिस्थितियों में बालक में अनुकूलन उत्पन्न किया जा सके। यह सब शिक्षक के मनोवैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षक के लिये मनोविज्ञान का ज्ञान कितना आवश्यक है। आधुनिक जनतन्त्रीय समाज में शिक्षक का लक्ष्य एक चिन्तनशील एवं क्रियाशील व्यक्ति के रूप में बच्चे का विकास करना है। इस विकास में एक व्यक्ति के रूप में उसका बहुत्सी परिस्थितियों के साथ समायोजन होता है। इस समायोजन में शिक्षक के निर्णयों और सूझ-बूझ का बडा महत्व है। इसमें वह एक व्यवहारिक विज्ञान के रूप में मनोविज्ञान का प्रयोग करता है। इसीलिये आजकल शिक्षकों को उनके प्रशिक्षण में मनोविज्ञान की शिक्षा दी जाती है, जिससे कि वे आधुनिक जनतन्त्रीय समाज में शिक्षा के लक्ष्यों और बालक के जीवन के बीच की गहरी खाई को पाट कर उनमें समन्वय स्थापित कर सकें। शिक्षक को एक ओर, शिक्षार्थी को, तो दूसरी ओर अपने को समझना है। इस ज्ञान में मनोविज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

बाल केन्द्रित शिक्षा की समस्याएँ

1) संतुलित व्यक्तित्व का विकास करना (Development of Balanced Personality)

शिक्षा की मुख्य समस्या बालक में एक सन्तुलित व्यक्तित्वका विकास करना है। सन्तुलित व्यक्तित्व वह है जिसमें बौद्धिकता, संवेग, नैतिकता और धार्मिक्ता भली प्रकार से समन्वित हो और जिसका कुशलता से उपयोग किया जा सके। घर और बाहर की परिस्थितियों में बालक का, व्यक्तित्व के अनेक दोष ग्रहण कर लेना एक सामान्य बात है। यदि उसके माता-पिता की बच्चे के साथ अत:क्रिया एवं सम्प्रेषण अच्छा न हो तो उसके व्यक्तित्व में अनेक दोष आ जाते हैं। इस प्रकार की सैकड़ों सामाजिक और बहुत्सी शारीरिक परिस्थितियों के कारण बालक अपने साथियों से कतराने लगता है या अत्यधिक दिवास्वप्न का शिकार बन जाता है। बाल मनोविज्ञान बालक के व्यवस्थापन सम्बन्धी लक्षण को देख कर उसके मूल कारणों का निदान करता है और फिर उसके निराकरण के उपाय खोजता है।

2) प्रेरणा (Motivation)

व्यवस्थापन की विभिन्न समस्याओं के मूल में बहुधा प्रेरणा की समस्यायें होती हैं। प्रेरणा के अभाव में प्रगति सदैव कम रहती है। उत्साह के बिना व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता। कहावत है कि आप घोड़े को पानी के पास ले जा सकतें है, परन्तु उसे पानी पिला नहीं सकते हैं। ऐसी प्रेरणा कैसे उत्पन्न हो, यह एक कठिन समस्या है। शिक्षा मनोविज्ञान इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करता है। देखा गया है कि कभी-कभी तो केवल प्रशंसा या निन्दा अथवा प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करने से ही सीखने की गति बीस से तीस प्रतिशत तक बढ़ जाती है। पाठ्यक्रम का चुनाव, सीखने की प्रक्रिया में विभिन्न क्रियाओं का चुनाव आदि प्रेरणा से ही सम्बन्धित समस्यायें हैं।

3) समझदारी और अर्थ में वृद्धि (Increass in Understanding and Meaning)

प्रेरणा की समस्या के मूल में कभी-कभी समझदारी की कमी और उपस्थित समस्या के अर्थों के ज्ञान का अभाव भी होता है। इसलिए आजकल शिक्षण में ऐसी सामग्री का प्रयोग किया जाता है, जो कि बालक के चारों ओर के परिवेश से ले ली गई हो और जिसको बालक भली प्रकार समझ सकता हो। इस सामग्री का चुनाव भी इस प्रकार होना चाहिए, जिससे उसे समझ में आ सके। उदाहरण के लिए सरकार की व्यवस्था को समझाने के लिए कक्षा में छोटी-मोटी सरकार बनाई जा सकती है। जनतन्त्रीय समाजों में विद्यार्थीगण विद्यालयों के विद्यार्थी संघों में जनतन्त्रीय व्यवस्था को आसानी से सीख जाते हैं।

4) व्यक्तिगत विभिन्नताओं में अनुवंशिकता और परिवेश का तुलनात्मक महत्व (Individual importance of Heredity and Environment in Individual Differences)

शिक्षा का लक्ष्य बालक का विकास करना है। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक की एक मुख्य समस्या बालक के विकास में और व्यक्तिगत विभिन्नताओं को उत्पन्न करने में आनुवांशिकता और परिवेश के तुलनात्मक महत्व से सम्बन्धित है। क्या शिक्षा से आनुवंशिक गुणों को बदला जा सकता है? क्या सामान्य वातावरण में बालक केवल आनुवांशिक गुणों के आधार पर पर्याप्त रूप से विकसित हो सकता है? क्या किसी भी बालक को शिक्षा के द्वारा कुछ भी बनाया जा सकता है? इस तरह के प्रश्न शिक्षा मनोविज्ञान में आनुवांशिकता और परिवेश के तुलनात्मक अध्ययन को प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिये शिक्षाद्वारा बुद्धि को कहाँ तक विकसित किया जा सकता है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके सम्बन्ध में शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने अनेक अध्ययन करके तथ्यों का पता लगाया है।

5) सीखने में अधिकतम प्रगति लाने के लिये उपयुक्त विधियाँ (Methods for maximum progress learning)- स्थूल रूप से शिक्षा की प्रक्रिया सीखने से आगे बढ़ती है। इसमें शिक्षा मनोवैज्ञानिक की मुख्य समस्या यह है कि सीखने में अधिकतम प्रगति प्राप्त करने के लिये कौन-सी विधियाँ सबसे अधिक उपयुक्त होगी। उदाहरण के लिये यह प्रश्न तो हो सकता है कि क्या अनुकरण और रचनात्मक क्रिया में कोई विरोध है? क्या शिक्षा में तथ्यों की जानकारी पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये अथवा रचनात्मक

कार्यों पर?शिक्षा मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण, प्रतिबद्ध अनुक्रिया प्रयत्न और भूल और सूझ द्वारा सीखने की विधियों पर प्रयोग कर के यह पता लगाने की चेष्टा की है कि किन परिस्थितियों में कौन-सी विधि से सबसे अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं।

6) संवेगो की शिक्षा (Education of Emotions) -

व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में संवेगों का समुचित और पुष्ट विकास बड़ा जरूरी है। इसके बिना अनुशासनहीनता तथा अनेक मानसिक रोग तक उत्पन्न होते देखे जा सकते हैं। अतः आधुनिक शिक्षा की एक समस्या संवेगों की शिक्षा के उपाय, सीमाएँ और परिणामों की खोज करना है।

7) बुद्धि और उपलब्धि का माप और विकास (Measurement and Development of Intelligence and Attainment)

शिक्षा के द्वारा बुद्धिऔर उपलब्धि का विकास होता। इसमें कैसे प्रगति हो सकती है और किसी बालक ने कहाँ तक प्रगति की है, यह जानने के लिये शिक्षक विभिन्न विधियों और मापों के सम्बन्ध में जाँच करते हैं और सुझाव देते हैं।

8) व्यक्तिगत विभिन्नताएँ (Individual Differences)

व्यवहारिक मनोविज्ञान व्यक्तिगत विभिन्नताओं के तथ्य पर आधारित हैं। शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का व्यवहारिक प्रयोग करने वाला शिक्षा मनोविज्ञान यह पता लगाता है कि व्यक्तियों में कौन-कौन से अन्तर पाये जाते हैं। ये अन्तर इतने अधिक होते हैं कि इनको जाने बिना कुशल शिक्षक अपना काम नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए कुछ लोगों का बौद्धिक स्तर निम्न होता है। उन्हें पढ़ना-लिखना तो क्या कपड़े पहनना और खाना-पीना भी बड़ी मेहनत से ही सिखाया जाता है। दूसरी ओर कुछ बालक इतने कुशाग्र बुद्धि होते हैं कि कक्षा की साधारण पढ़ाई-लिखाई उनको काम में लगाये रखने के लिये पर्याप्त नहीं होती और वे शीघ्र ही उससे ऊब जाते हैं। अतः शिक्षा मनोवैज्ञानिक व्यक्तिगत विभिन्नताओं की सीमाओं का पता लगाता है और विशेष बालकों को व्यक्तिगत रूप से आगे बढ़ाने का प्रयास करता है।

9) सीखने से सम्बन्धित समस्यायें (Problems Related to Learning) -

बाल केन्द्रित शिक्षा की अनेक समस्यायें सीखने से सम्बन्धित हैं। इसमें मुख्य निम्नलिखित हैं-

1. सीखने की प्रक्रिया की प्रकृति
2. परिपक्वता के स्तर और सीखने में सम्बन्ध।
3. सीखने की गति और सीमा में व्यक्तिगत विभिन्नताओं का महत्व।
4. सीखने की प्रक्रिया में होने वाले आन्तरिक परिवर्तन।
5. सीखने के परिणामों का शिक्षण विधियों से सम्बन्ध।
6. सीखने की प्रगति की जाँच के लिए मूल्यांकन की विधियाँ।
7. सीखने की औपचारिक और अनौपचारिक विधियों का तुलनात्मक महत्व।
8. सीखने वाले पर सामाजिक परिस्थियों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव।

10) व्यवहारिक समस्याएँ (Practical Problems) -

मनोविज्ञान केवल सैद्धांतिक ही नहीं, बल्कि एक व्यवहारिक विज्ञान भी है। इसीलिये उसमें ऐसी बहुत्सी समस्यायें आती हैं, जो वास्तविक परिस्थितियों में शिक्षक की समस्यायें होती हैं। जैसे -

1. प्रत्येक विद्यार्थी की प्रकृति और उसके विकास की सम्भावनाओं की जानकारी,
2. आधुनिक संस्कृति में समायोजन के लिये आवश्यक व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन
3. शिक्षण और सीखने की प्रक्रिया में निहित मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज।

बाल मनोविज्ञान के विकास के साथ-साथ उसके सम्मुख नई-नई समस्याएँ आती-जाती हैं। आधुनिक जनतन्त्रीय समाज में शिक्षा मनोवैज्ञानिक, शिक्षा को यथासम्भव जनतंत्र के अनुकूल बनाने के लिये प्रयत्नशील है। इस प्रयास में जो भी समस्यायें उसके सामने आती हैं, उन समस्याओं के सुझाव पर ही जनतन्त्रीय समाज का भविष्य निर्भर है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

14. गिजू भाई के शैक्षिक दर्शन की मुख्यविशेषताएँ बताइये।

3.15 सारांश

उपरोक्त विवेचन के फलस्वरूप सार रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक परपंरा में 'प्रत्येक दर्शन किसी सांस्कृतिक परंपरा को अभिव्यक्त करता है और एक की शब्दावली दूसरी परंपरा में भिन्न अर्थ ग्रहण करती है। उपरोक्त सभी भारतीय दर्शन वेदों को अपना आधार मानते हैं अर्थात् वे वैदिक दर्शन मेंविश्वास रखने वाले आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

3.16 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

प्रश्न क्रमांक 1 तथा 2 के लिए अध्याय 3.2 देखें।
प्रश्न क्रमांक 3 के लिए अध्याय 3.3 देखें।
प्रश्न क्रमांक 4 के लिए अध्याय 3.4 देखें।
प्रश्न क्रमांक 5 के लिए अध्याय 3.5 देखें।
प्रश्न क्रमांक 6 के लिए अध्याय 3.6 देखें।
प्रश्न क्रमांक 7 के लिए अध्याय 3.7 देखें।
प्रश्न क्रमांक 8 के लिए अध्याय 3.8 देखें।
प्रश्न क्रमांक 9के लिए अध्याय 3.9 देखें।
प्रश्न क्रमांक 10 के लिए अध्याय 3.10 देखें।
प्रश्न क्रमांक 11 के लिए अध्याय 3.11 देखें।
प्रश्न क्रमांक 12 के लिए अध्याय 3.12 देखें।
प्रश्न क्रमांक 13 के लिए अध्याय 3.13 देखें।
प्रश्न क्रमांक 14के लिए अध्याय 3.14 देखें।

3.17 शब्दावली

अंत: प्रज्ञा

अन्तर्द्वन्द

अन्त: शास्त्रीय

आदर्श

आधारभूत मूल्य

आधुनिकीकरण

आध्यात्मिक मूल्य

आर्थिक विकास

औपचारिक शिक्षा

इन्द्रियपरक

उच्च शिक्षा

ज्ञान

ज्ञान के सिद्धान्त

ज्ञान मीमांसा

चेतना

जनतंत्रात्मक

तर्क-परक

धार्मिक और नैतिक शिक्षा

निरक्षरता

निषेधात्मक शिक्षा

पाठ्यक्रम

पाठ्यचर्या

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवादी दर्शन

प्रतिमान

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रशिक्षण

प्रौढ़शिक्षा

मनोवैज्ञानिक आधार

मानवीय मूल्य

मूल्य शिक्षा

लोकतंत्र और शिक्षा

विचारधारा

व्यक्तित्व

संप्रेषण

संस्कृति

समतामूलक समाज

साक्षरता

सृजनात्मकता

3.18 संदर्भ पुस्तकें

1. चाँद किरण, शिक्षा: दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7।
2. हरिवंश तरुण, मानक शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
3. रामसकल पाण्डेय, शिक्षा की दर्शनिक एवं समाज-शास्त्रीय पृष्ठभूमि, अग्रवाल पब्लीकेशन्स, आगरा ।
4. आर. पी. पाठक, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत, डार्लिन किंडरस्ले (इंडिया) प्रा. लि.।
5. आत्मानंद मिश्र : भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक, अग्रवाल एण्ड संस, इलाहाबाद।

इकाई: 4 शिक्षा और मूल्य

इकाई की संरचना :

4.0 शिक्षण उद्देश्य
4.1 इकाई परिचय
4.2 शिक्षा और मूल्य: मूल्यों की प्रकृति और उनके स्रोत
4.3 समकालीन समाज में मूल्य
4.4 मूल्यों के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता
4.5 विद्यालय के संदर्भ में मूल्यों का निर्माण
4.6 मूल्यों के विकास और पोषण के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका
4.7 सामाजिक संघर्ष की चुनौतियाँ और शांति स्थापना
4.8 सारांश
4.9 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर
4.10 शब्दावली
4.11 संदर्भ पुस्तकें

4.0 शिक्षण उद्देश्य :

1. छात्राध्यापकों को जीवन मूल्य तथा शिक्षा द्वारा इन्हें प्राप्त करने की मान्यताओं से परिचित कराना।
2. शिक्षा की प्रक्रिया में मूल्यों की भूमिका एवं मूल्यों के विकास में शिक्षा के योगदान का संक्षिप्त परिचय।

4.1 इकाई परिचय

मूल्य शिक्षा के उद्देश्य पर निर्भर होते हैं। बूबेकर के कथनानुसारशिक्षा के मूल्यों को बताने मात्र से शिक्षा के उद्देश्य सीमितहो सकते हैं।यदि शिक्षा के उद्देश्य भिन्न हैं तथा उसके पारिभाषिक शब्द अस्पष्ट हैं तो उसकेउद्देश्य भीअस्पष्ट होंगे। मूल्यांकन का कार्य शिक्षा के क्षेत्र में चलता ही रहता है किंतु किसी निश्चित दर्शन की सहायता से यह कार्य सुगम बनाया जा सकता है। प्रायः अनुभव जन्य तथा शिक्षा द्वारा उत्पन्न रुचि के आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि किन मूल्यों में अमुक व्यक्ति की आस्था होगी।

4.2 शिक्षा और मूल्य: मूल्यों की प्रकृति और उनके स्रोत :

मूल्य का विचार मानव को स्वतः उस जीवन दृष्टि की ओर ले जाता है जिसमें जीवन के महत्व पर विचार किया जाता है, इसमें व्यक्ति और समाज के लिए क्या कल्याणकारी है इसेपारिभाषित करना तथाउसके कार्य व्यवहारों के आधार पर मूल्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है।

प्रोफेसर अर्बन ने अपनी पुस्तक "फण्डामेण्टल ऑफ एथिक्स"में लिखा है कि "मूल्य वह है जो मानव इच्छा की तृप्ति करे एवं व्यक्ति तथा उसकी जाति के संरक्षण में सहायक हो।" अंत में वे कहते हैं कि"केवल वही परम रूप से और साध्य रूप से मूल्यवान है जो आत्मा के विकास या आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाए।" इस परिभाषा में मानव की जैविक से लेकर आध्यात्मिक तक सभी आवश्यकताओं का समावेश हो जाता है जिनका मानव जीवन के लिए महत्व है एवं जिसे पाने के लिए व्यक्ति प्रयास करता है तथा बड़े से बड़े त्याग करने के लिए तैयार रहता है। इस प्रकार मूल्य वह सत्य है जिसके लिए व्यक्ति जीता है और आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष करने, दुःख सहने व मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है।

मूल्य परिवर्तनशील समाज की वह धुरी है जिसके कारण समाज कीवस्तुतःउपयोगिता अथवा कल्याणकारिता की भावना को गति मिलती है।

"मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्गुण है जिससे व्यक्ति अपने निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपनी जीवन-पद्धति का निर्माण करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।" इसमें मनुष्य की धारणाएँ, विचार, विश्वास, मनोवृत्तिआदि समाहित हैं। ये मानव मूल्य एक ओर व्यक्ति के अंत: करण द्वारा नियंत्रित होते हैं तो दूसरी ओर उसकी संस्कृति एवं परंपरा द्वारा क्रमश: विकसितएवं परिपोषित होते हैं।

यह भी कहा जा सकता है कि मूल्य मनुष्य के अंतरतम में जगती हुईएक ऐसी प्रेरणा है जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसके आचरण को शासित भीकरती है।

जीवन के मूल्यों को स्थूल रूप से दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है परिवर्तनशील मूल्य तथा शाश्वत मूल्य। सामान्यतः देखें तो मूल्य कई प्रकार के होते हैं, जैसे-जैविक मूल्य, सामाजिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य।

समय के साथ मूल्यों में भी परिवर्तन आ रहे हैं। उदाहरण के लिए यदिकलयुग के जीवन मूल्यों से हम प्राचीन मूल्यों सतयुग,त्रेता, द्वापर आदि की तुलना करें तो काफी अंतर प्रतीत होगा। प्राचीन समय से देखें तो जो जीवन मूल्य सतयुग में थे,वे त्रेता में नहीं थे, जो त्रेता में थे वे द्वापर में नहीं थे तथा जो द्वापर में थे वे कलयुग में पूर्णतः समाप्त हो चुके हैं।

कलयुग में हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में तनाव के कारण दिन-प्रतिदिन घुटन बढ़ती जा रही है। परिवार में छोटे बड़ों का आदर नहीं करते हैं। सामाजिक जीवन में सहयोग समाप्त हो रहा है। सामाजिक नियम व व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हुए हम संकोच नहीं करते हैं प्रदर्शन, घेराव, तोड़-फोड़, हिसांत्मक विद्रोह एवं आतंक हमारे जीवन में हर समय तनाव या भय पैदा करते रहते हैं। भ्रष्टाचार, काला बाजारी, रिश्वतखोरी, तश्करी, मिलावट, कालाधनआदि से संबंधित गतिविधियाँ हमें दिन-प्रतिदिन व्याकुल करती रहती हैं। वर्तमान समय में मूल्य इतने गिर गए हैं कि जीने का अर्थ ही बदल गया है। हर काम में स्वार्थभरा पड़ा है।

समाज में कल्याणकारी सामंजस्य स्थिति उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को सत्य, अहिंसा आदि शाश्वत मूल्यों का पालन करना चाहिए। आज के समाज में सर्वमान्य मूल्य जैसेसमानता, अस्पृश्यता निवारण, धर्मनिरपेक्षता आदि के अंतर्गत उन्हीं शाश्वत मूल्यों की रक्षा की जा रही है जिसके अनुसार प्राणी मात्र को प्रभु की संतान के रूप में स्वीकार करते हुए किसी भी प्रकार का कष्ट देना उचित नहीं समझा जाता। इससे स्पष्ट है कि युग मूल्य वस्तुतःशाश्वत मूल्यों से ही उत्पन्न हुए हैं।

मूल्यों के प्रकार

मूल्य कई प्रकार के होते हैं। शिक्षा के मूल्य केवल चुनाव ही नहीं वरन् बुद्धिमत्तापूर्ण चुनाव है। यदि किसी बालक की इच्छा है कि वह कला सीखे तो उसे विज्ञान का विषय पढ़ाना उत्तम नहीं होगा। उसकी इच्छाओं को केवल कला ही पूरा कर सकेगी। वैसे विद्यालय का प्रत्येक कार्य मूल्यवान है किंतु छात्र को तो चुनाव करना ही पड़ता है।

साधारणतः मूल्य दो प्रकार के होते हैं -

(1) नैमित्तिक मूल्य(Instrumental Values)

(2) आंतरिक मूल्य (Intrinsic Values)

नैमित्तिक मूल्य किसी विशेष प्रयोजन के मूल्य होते हैं। विषयों के चुनाव में कौन से विषय छात्र के भविष्य के लिए सफलता के सूत्र बनेगें, इस बात का निर्णय नैमित्तिक मूल्य के आधार पर करना होगा। कुछ मूल्य आंतरिक होते हैं और उनका चुनाव किसी मान्यता के आधार पर नहीं होता। स्वयं के अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता है। उदाहरण के लिए मेज को ही ले लीजिए। कक्षा के अंदर उस मूल्य की कोई अन्य वस्तु नहीं है। मेज अपने मूल्य के कारणही कक्षा में है न कि किसी अन्य मूल्य के कारण।

क्या आंतरिक और नैमित्तिक मूल्य किसी एक ही वस्तु में एक साथ संभव हो सकते हैं? नैमित्तिक मूल्यों को मानने वाले तो इसका उत्तर न से ही देगें। आंतरिक मूल्यों पर विश्वास करने वालों के लिए यह बात संभव है कि मेज का मूल्यउससे पढ़ने-लिखने का काम लेकर ही देखा जा सकता है। किंतु यदिहम उस पर बैठ जाएँ तो कुछ समय के लिए उसका नैमित्तिक मूल्य हो जाएगा। इस प्रकार उनके लिए एक ही वस्तु में दोनों मूल्य संभव हैं। इसी प्रकार पाठ्यक्रम में कौन सा विषय नैमित्तिक मूल्य के कारण रखा गया है और कौन सा विषय आन्तरिक मूल्य के कारण है, इसका निर्णय सरल नहीं है। दोनों प्रकार के मत मिल जाते हैं। जैसे संस्कृत को भारतीय विद्यालयों के पाठ्यक्रम में नैमित्तिक मूल्य के कारण सम्मिलित किया गया है अथवा आंतरिक मूल्य के कारण,इसके विषय में दोनों प्रकार के मत मिलते हैं। कुछ मूल्य सौंदर्यशास्त्र से भी संबंधित होते हैं। वैसे इनका क्षेत्र शिक्षाशास्त्रियों की संकीर्णता के कारण संकुचित ही रह गया है। प्रायः इसी कारण सौंदर्यशास्त्र में केवल संगीत, कला, चित्रकला इत्यादि को ही सम्मिलित किया गया है। फिर भी हम भलीभाँति जानते हैं कि प्रत्येक विषय की अपनी उपयोगिता होती है तथा उसकी प्रशंसा करने का अपना मानदण्ड होता है। यही बात सौंदर्यशास्त्र संबधी विषयों के लिए भी सच है। वैसे, सौंदर्यशास्त्र के मूल्य अपने पैरों पर भी खड़े हो सकते हैं किंतु उन्हेंजीवन के कार्यों से अलग नहीं होना चाहिए। प्रत्येक पाठ में उनका योग आवश्यक है।

जीवन मूल्यों के स्रोत

जीवन मूल्य मानवीय आचरण तथा व्यवहारों के मापदण्ड या मानक हैं। ये मानवीय अनुभवों, सांस्कृतिक एवंसामाजिक परंपराओं से प्रभावित होते हैं। आत्मवाद, ईश्वरवाद, भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद, परलोकवाद आदि दार्शनिक एवंधार्मिक सिद्धांतों का भी मूल्यों के निर्धारणएवं विकास में बहुत योगदान रहाहै। विभिन्न मूल्यों में से कर्तव्य-बोध भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का विचार सदैव ही आध्यात्मिकता से जुड़ा रहा है जो हमारी संस्कृति का प्रधान तत्व रहा है।

हमारे जीवन मूल्यों के विविध स्रोतों पर भारतीय दर्शन एवं सामाजिक मान्यताओं का प्रभाव रहा है। इन दार्शनिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

1. ईश्वरवाद-ईश्वर की सत्ता एवं महत्ता।
2. आत्मवाद-आत्मा अमर है, देह नाशवान है
3. पुनर्जन्म का सिद्धांत
4. परलोकवाद
5. कर्मविपाक का सिद्धांत
6. भाग्यवाद - पुरुषार्थ
7. आध्यात्मवाद - भौतिकवाद
8. समन्वयवाद
9. सत्संगति का महत्व

उपर्युक्त विचारधाराएँ एवं मान्यताएँ भारत की सामाजिक संस्कृति के अभिन्न घटक हैं। ये हमारे विविध नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रमुख स्रोत हैं। अतः यहाँ सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उनका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। संतों, महापुरुषों तथा विविध समाजसुधारकों की शिक्षाओं ने भी सदियों से इन मूल्यों का पोषण एवं परिवर्धन कियाहै।

ईश्वरवाद: हमारी ऐसी दार्शनिक मान्यता है कि जगत् मेंईश्वर व्याप्त है। आस्तिक दर्शनों की भी यही मान्यता है। नास्तिक लोग ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। आचार्य सायण ने वेदों की निंदा करने वालों को भी नास्तिक कहा है। गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार ईश्वर अन्तर्यामी और बहिर्यामी दोनों है। ईश्वरवाद को साहित्य में सगुणवाद या सगुण ब्रह्मवाद भी कहा गया है। गीता में ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है। इसाई-मतानुयायी लाइबिनीज तथा भारत में वैष्णव, शैव व पंचरात्र सम्प्रदाय के अनुयायी तथा सगुणोपासक भक्त ईश्वर को इसी रूप में मानते हैं।

आत्मवाद : भारतीय दर्शन में उत्तर मीमांसा या वेदांत पद्धति का विशेष स्थान है। वेदांती कहते हैं कि अज्ञान (अविद्या यामाया) के कारण ही कोई व्यक्ति इस संसार के साथ अपने शरीर और मन को वास्तविक समझने का भ्रम करता है।वास्तविक ज्ञान होने पर सारा संसार ही आत्मा के द्वारा प्रतिभाषित प्रतीत होता है।

आत्मवाद के अनेक पर्याय दार्शनिक ग्रंथों में पाये जाते हैं यथा ब्रह्मविद्या, पराविद्या आदि। आत्मवाद के अंतर्गत आत्मा का परमात्मा से, जगत से संबंध निर्दिष्ट करके उसकी लौकिक एवं पारलौकिक सत्ता रेखांकित की गई है। मनुष्यों के नैतिक मूल्यों का संबंध मुख्यतः शरीर, मन एवं वचन से होता है। यदिशरीर को नियंत्रित करने वाला मन है तो मन को नियंत्रित एवं नियमित करने वाली आत्मा है जो शरीर रूपी रथ की स्वामी है।

पुनर्जन्म का सिद्धांत: पुनर्जन्म का सिद्धांत एक ऐसा दार्शनिक सिद्धांत है जिसकी जड़ें भारतीय संस्कृति के अत्यंत गहन स्तर को छूती हैं। इस सिद्धांत से अनेक सामाजिक-धार्मिक समस्याओं का समाधान लोग प्राचीन काल से हीकरते आये हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक शोधों (PsychologicalPsychological Researches) ने इस सिद्धांत की पुष्टिमें महत्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टीवेंशन्न के अनुसार अनुवांशिकी के साथ पर्यावरण संबंधी प्रभाव मानक्व्यक्तित्व के सभी पहलुओं की व्याख्या प्रस्तुत नहीं कर सकते। किसी मनुष्य में जन्म से ही कुछ व्यवहार विशिष्ट होते हैं और वे मृत्युपर्यन्तबने रहते हैं। इन विशिष्टताओं की व्याख्या पुनर्जन्म के सिद्धांत से की जा सकती है। जब बारह वर्षों तक शुकदेव ने वेद ऋचाओं के गहन अभ्यास का परिचय दिया या जब आठ वर्षीय ज्ञानदेव ने शास्त्रार्थ द्वारा अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया तो उनकी इस अलौकिकता का संबंध पूर्व जन्म के संस्कारों से ही स्थापितकिया जाता है।

परलोकवाद : परलोकवाद का पुनर्जन्म के सिद्धांत से घनिष्ठ संबंध है। भौतिकवादीपुनर्जन्म के सिद्धांत की तरह परलोक भी नहीं मानते हैं। इस सिद्धांत में आत्मा की अमरता और अखण्डता निहित है। हमारे उपनिषदों में परलोक गमन का सूक्ष्म दार्शनिक वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अपने उत्तम कर्मों का फल भोगकर जीवात्मा पुनःउसी मार्ग से लौटती है।

उपनिषदों में जीवात्मा की इस यात्रा को तथा कर्मानुसार जन्म लेने की प्रक्रियाओं को बड़े सूक्ष्म और वैज्ञानिक ढंग से समझाया गया है। हम यहाँ उन जटिलताओं में ने जाकर इतना स्पष्ट करना चाहेंगें कि परलोक के बनने-बिगड़ने के भय से तथा पाप-पुण्य के डर से लोग परम्परागत नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का पालन करते हैं। आज भौतिकवाद के प्रबल प्रभाव के फलस्वरूप पाप-पुण्य का भय अधिकांश लोगों में नहीं दिखाई देता।

कर्मविपाक के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का फल उसे उसी जन्म में भोगना पड़ता है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार कर्म ही समस्त सुख-दुःख के कारणों का मूल है। कर्म का फल तो इसी जीवन में मिल जाता है किंतु यदि इस जीवन में न मिल पाया तो दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है। स्वकर्म से मनुष्य बच नहीं सकता। यह सिद्धांत भारतीय जीवन-दर्शन की प्रधान वस्तु है मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्म उसे नहीं छोड़ते। जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा, प्रायः यह मान्यता संसार के सभी धर्मों में प्रचलित है।

भाग्यवाद - पुरुषार्थ: भाग्यवाद के संबंध में पूर्व एवं पश्चिम के विचारों को हम मुख्यतः तीन श्रेणियों में रख सकते हैं -

1. विशुद्ध भाग्यवादी
2. विशुद्ध पौरुषवादी
3. समन्वयवादी

विशुद्ध भाग्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार भाग्य ही फलदायी होता है। पूर्वजन्म के संचित भाग्य ही मनुष्य को फल देते हैं। भौतिकवादियों की दृष्टि में भाग्य नाम की कोई वस्तु नहीं होती है, वे पुरुषार्थ में और कर्म में ही विश्वास करते हैं। समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनुसार भाग्य एवं पुरुषार्थ (कर्म) दोनों के समन्वय की बात मानना उचित होगा। इन विचारकों के अनुसार भाग्य एवं पुरुषार्थदोनों के मेल से ही जीवन में सफलता मिलती है।

आध्यात्मवाद-भौतिकवाद : यहाँ भौतिकवाद शब्द आत्मवाद अथवा आध्यात्मवाद के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो विचारधारा आत्मा-परमात्मा, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मविपाक के सिद्धांतों को न माने उसे ही हम भौतिकवादी कहेंगे। यह भौतिकवाद मार्क्सवादियों के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से भिन्न है। आदर्शवाद के अनुसार यह विश्व किसी 'पूर्ण आध्यात्मिक तत्व' (Cosmic Soul) या चेतना का मूर्तरूप है। इसके विपरीत मार्क्स के दार्शनिक नैतिकवाद के अनुसारसंसार स्वभाव से ही भौतिकवादी है।उसके अनेक रूप धारण करने वाले दृश्य गतिशील पदार्थ (भूत) के ही विभिन्न रूप हैं। ये रूप परस्पर सम्बद्ध हैं और जैसा कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली ने सिद्ध किया है कि यह परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता ही गतिशील पदार्थ (भूत) के विकास का नियम है। संसार को किसी व्यापक आत्मा की आवश्यकता नहीं है, उसका विकास पदार्थ की गतिशीलता के नियमों के अनुकूल होता है।

समन्वयवाद : जीवन में समन्वय न हो तो वह गतिहीन हो जाएगा। जीवन की जड़ता को दूर करने के लिएउसे निरंतर गतिशील बनाने के लिए विविध कारकों में समन्वय आवश्यक हो जाता है। जैसे- विज्ञान एवं आध्यात्म में, ज्ञान एवं भक्ति में, नूतन एवं पुरातन में युगधर्म एवं सनातन में समन्वय के द्वारा ही पीढ़ीगत अंतर (Generation Gap) को दूर किया जा सकता है।

सत्संगति का महत्व :लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से सत्संगति का महत्व है। इसे सभी धर्मों में स्वीकार किया गया है। ईश्वर एवं शैतान की कल्पना इसी को प्रतीकात्मक रूप में प्रकट करती है। सत्संगति हमारे नैतिक मूल्यों को स्पष्टता एवं दृढ़ता प्रदान करती है। सत्संगित से व्यक्ति के मन में जैसा विचार उत्पन्न होता है उसी के अनुरूप उसके कार्य की दिशा बदल जाती है।

हमारे नैतिक मूल्यों पर सत्संगति अथवा कुसंगति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है क्योंकि इससे अच्छी व बुरी आदतें बनने लगती हैं जो आगे चलकर मनुष्य के चरित्र का अंग बन जाती है। इसलिए हमारे साहित्य में सत्संगति की महिमा का बखान किया गया है।

धर्म एवं जीवन मूल्य : हमारे सभी धर्मों-हिन्दू, इस्लाम, सिख, इसाई, पारसी इत्यादिमें मानवतावाद की प्रवृत्ति पायी जाती है। सभी धर्मों ने नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर जोर देते हुए मानवीय संबंधों कीसरलता, निश्चलता एवं मधुरता को मानव के कल्याण एवं उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक बताया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस धर्म में मानवतावद का ह्रास हुआ वहीं उसके पतन की शुरुआत हो गई। नैतिक सदाचार को सभी धर्मों ने अपरिहार्य माना है। इस संबंध में डॉ. राधाकृष्णन का निम्नांकित वक्तव्य उल्लेखनीय है -

"मानवतावाद जाति-वर्ण निरपेक्ष धर्म का ही दूसरा नाम है। नैसर्गिक मानव की स्वयं पूर्णता एवं मानव मूल्यों का महत्व मानवतावादियों के लिए प्रमुख वस्तु है।'

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए -

1. मूल्यों की प्रकृति से आप क्या समझते हैं?
2. मूल्यों के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं?

4.3 समकालीन समाज में मूल्य

सामाजिक मूल्य के सामाजिक मान (Social Standard) वह लक्ष्य या आदर्श हैं जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा मुद्दों का मूल्यांकन किया जाता है। ये मूल्य हमारे लिए कुछ अर्थ रखते हैं और हम उन्हें अपने सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण समझते हैं। इन मूल्यों का एक सामाजिकसांस्कृतिक आधार या पृष्ठभूमि होती है। इसलिए प्रत्येक समाज के मूल्यों में हमें भिन्नता देखने को मिलती है। एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

भारतीय समाज के हिंदुओं में विवाह के प्रति एक विशिष्ट सामाजिक मूल्य यह है कि विवाहबंधन एक पवित्र व धार्मिक बंधन है। इस कारणवश इसे अपनी इच्छानुसार तोड़ा नहीं जा सकता है। साथ ही यह पवित्रता तभी बनी रह सकती है जब पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति वफादार बने रहें। इन मूल्यों का सामाजिक प्रभाव यह होता है कि हिंदुओं में विवाहविच्छेद की भावना पनप नहीं पाती है। इसके विपरीत अमेरिकन समाज में विवाह से संबंधित इन मूल्यों का नितांत अभाव होने के कारण विवाहविच्छेद (Divorce) निंदनीय नहीं है। सामाजिक मूल्य सामाजिक मान (Social Standards) हैं जो कि सामाजिक जीवन के अंत:संबंधों को पारिभाषित करने में सहायक होते हैं।

थॉमस तथा जैनिनकी के अनुसार मूल्य वह लक्ष्य है जिसकी अंर्तवस्तु तथा अर्थ तक सामाजिक समूह के सदस्य पहुँच सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक मूल्य कोई गूढ़ तत्व नहीं है जिसे एक समाज के सदस्य समझतेबूझते न हों। सामाजिक मूल्य समाज के सदस्यों के मस्तिष्क की हीउपज हैं और इसीलिए ये सदस्य इन मूल्यों के संबंध में पूर्णतया अचेत नहीं होते हैं।

मीड तथा फोरिस के अनुसार मूल्यों का एक वैश्विकरूप भी होता है जो कि व्यक्ति तथा समाज दोनों को ही प्रभावित करता है। वास्तव में इन्हीं मूल्यों के आधार पर व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियाँ (Attitudes) बनाता है और ये मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इसलिए यदि हम व्यक्ति के व्यवहारों को उचित रूप से समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हममूल्यों का भी अध्ययन कर लें।

सामाजिक मूल्य आदर्श हैं इस धारणा पर ही श्री दुर्खाइम ने अधिक जोर दिया है। दुर्खाइम के अनुसार - ''मूल्यों की विवेचना एक सामाजिक तथ्य के रूप में ही करनी चाहिए। सामाजिक तथ्य व्यवहार (विचार, अनुभव या क्रिया) का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैश्विक रूप में संभव है और जो कि एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।''

जॉनसन के अनुसार मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की चीजों का मूल्यांकन किया जा सकता है जैसे- भावनाएँ,विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधन।

मूल्यों का एक संवेगात्मक (Emotional) आधार होता है। मूल्य समाज के सदस्यों के संवेगों की अपील करता है और उन्हीं के भरोसे जीवित रहता है। व्यक्ति जब चीजों के विषय में विचार करता हैया निर्णय लेता है अथवा मूल्यांकन करता है तो उस पर उद्वेग का प्रभाव स्पष्ट रहता है। एक उदाहरण के द्वारा इसे समझा जा सकता है। हिंदुओं में विवाह से संबंधित एक दृढ़ मूल्य स्वजातीय विवाह (Endogamy) है। इस सामाजिक मूल्य के अनुसार व्यक्ति को अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई अंतर्जातीय विवाह (Inter-caste Mearriage) करता है तो सामान्यतया यह देखने को मिलता है कि उस विवाह की चर्चा दाम्पत्य के परिवार में, पड़ोस या गाँव में, मित्र-मण्डलियों में उद्वेगपूर्ण शब्दों मे की जाती है। यदि उसी प्रकार विवाह के पश्चात् नवदाम्पत्य संयुक्त परिवार से अलग हो जाते हैं। तो उस दाम्पत्य की, विशेषकर वधू की निंदा होती हैक्योंकि हिंदुओं का सामाजिक मूल्य संयुक्त परिवार के पक्ष में है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति धर्म त्याग कर अहिंसा के सिद्धांतों पर अटल रहकर अपने प्राण तक दे देता है तो उसकी प्रशंसा होती है। क्योंकि उस व्यक्ति ने स्वीकृत मूल्यों का पालन किया है।

जॉनसन ने लिखा है कि मूल्य व्यक्तित्व को या सामाजिक अंतर्क्रिया की व्यवस्था (System of Social Interaction) को संगठित करने में सहायक होता है मूल्य कुछ सामान्य, सामाजिक आदर्श, लक्ष्य या नीतियों को सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संघर्ष की संभावनाएँ तथा अनिश्चिताएँ कम हो जाती हैं।सामाजिक जीवन के कई कार्यकलापों से संबंधित मूल्यविभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं। जैसे परिवार के मुखियासे संबंधित कुछ मूल्य होते हैं वैसेही सम्पूर्ण राष्ट्र के शासक के संबंध में भी कुछमूल्य हुआ करते हैं।

समाज या सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित जो मूल्य हैं उनमें एक प्रकार्यात्मक संबंध होता है जिसके कारण सामाजिक संबंधों का ताना-बाना टूटता नहीं वरन्उनमें एक तालमेल की स्थिति बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप समाज में व्यवस्था व संतुलन बना रहता है। उदाहरणार्थ-पारिस्थितिक स्तर (Ecological Level) पर प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग संबंधी कुछ मूल्य होते हैं जिसके कारण पारिस्थितिक संतुलन सम्भव होता है। उसी प्रकार आर्थिक स्तर (Economic Level) पर समाज कल्याण, कीमत, आय का वितरण, उचित वेतन तथा जीवन स्तर संबंधी मूल्य होते हैं। राजनीतिक स्तर (Political Level) पर न्याय, समानता, स्वतंत्रता, राजभक्ति व नागरिकता के मूल्य, वैधानिक स्तर (Legal Level) पर न्याय, समानता, स्वतंत्रता, सुरक्षा, अधिकार व व्यवस्था के मूल्य, शैक्षिक स्तर (Education Level) पर व्यक्तित्व विकास, मानसिक स्वास्थ्य, चरित्र तथा जीवन-लक्ष्य संबंधितमूल्य तथा नैतिक स्तर (Moral Level) पर पारस्परिक आदान-प्रदान, सहयोग, सहानुभूति न्याय एवं प्रेम के मूल्य समाज के विभिन्न पक्षों और समग्र रूप में पूरे समाज को संतुलित व व्यवस्थित रखने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। मूल्यों के बिना समाज की कल्पना करना कठिन है। सुसंस्कृत समाज का प्रथम लक्षण उच्च व उत्तम प्रकार के मूल्य ही हैं। यदि समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह परम या सर्वोच्च मूल्यों (Supreme Level) को नियमित रूप से ग्रहण करता रहे। व्यक्तित्व विकास के लिए सुंदरता, अच्छाई तथा प्रेम के उच्चतम आध्यात्मिक मूल्यों (Higher Spirittial Values of Beauty, Goodness and Love) की आवश्यकता है। इसी सुंदरता, अच्छाई तथा प्रेम के आधार पर सामाजिक संबंधों व संस्थाओं का निर्माण (Creation) होता है। मानव कल्याण के लिए इन मूल्यों का संरक्षण आवश्यक है।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए -

3. समकालीन समाज में मूल्यों का महत्व समझाइये।

4.4 मूल्यों के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता

मूल्यों का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्व है। मूल्य की शिक्षा आज देश के सभी नागरिकों विशेषकर शिक्षकों के लिए विशेष चुनौतीपूर्ण बन गयी है। आधुनिकतावादी मानव ने एक ओर भौतिक क्षेत्र में बहुत प्रगति की है वहीं दूसरी ओर वह सम्पूर्ण मानवता को मिटाने पर तुला है। यह एक नकारात्मक प्रवृत्ति है। एक ओर जहाँ मनुष्य चाँद पर पहुँच गया है, वहीं दूसरी ओर जगहजगह मानवता के विनाश के प्रयास किए जा रहे हैं।

सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार की घटनाओं ने विश्व विकास की रिपोर्ट द्वारा प्रकाशित सूची में हमारे देश को विश्व में भ्रष्ट राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा कर दिया है। मूल्य संकट की इस घड़ी में सम्पूर्ण समाज का यह दायित्व हो जाता है किवह समाज की मदद हेतु आगे आए। शिक्षा ही वह साधन है जो बालक में अंतर्निहित शक्तियों को उभारकर पूर्ण विकसित करती है। यह वह ज्ञान है जो बालक की बुराइयों को दूर कर आंतरिक गुणों को जगमगा देता है जिसके प्रकाश में बालक स्वयं अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। शिक्षा का यह भूमिकाबालक और समाज दोनों के लिए उपयोगी है।

शिक्षार्थी वह बीज है जो अपने अंदर समस्त मूल्यों के विकास की संभावना को समेटे हुए है और शिक्षा वह परिवेश है जो इस बीज को खाद-पानी देकर उसे विकसित होने का अवसर प्रदान करती है। इन दोनों के योगदान से ही मूल्यों की उत्पतिऔर विकास हो सकता है। शिक्षा समाज की वह सीढ़ी है जिस पर पाँव रखकर व्यक्ति अपने संस्कारों को सँवारता है और शिक्षा को दिशा प्रदान करता है। महान व्यक्ति के जीवन के उद्देश्यों का प्रायः समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा अनुकरण किया जाता है। शिक्षा, समाज तथा व्यक्ति, तीनों मिलकर यह निर्धारित करते हैं कि अमुक काल में व्यक्ति तथा समाज का कल्याण किन बातों पर ध्यान देने से संभव है। स्वतंत्रता के इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी व्यक्ति की नैतिक, आत्मिक एवं भावात्मक शक्तियों को विकसित करने हेतु उपयुक्त शिक्षा प्रक्रिया का क्रियान्वपन पूरी तरह संभव नहीं हो सका है। मूल्यसंकट के इस दौर में विघटनकारी तत्व आज पहले से कहीं अधिक सक्रिय हैं। युवा पीढ़ी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में जुटी दिखाई देती है। ऐसी शिक्षा के कारण ही वर्तमान समाज के मूल्य क्षणभंगुर हो गए हैं। यह शिक्षा प्रणाली मनुष्य में राग, द्वेष,शोक उत्पन्न कर रही है। यही मूल्यों का ह्रास होने का प्रमुख कारण है। शिक्षार्थी में चिंतन का विषय भावना नहीं अपितु पदार्थ बन गया है। यह शिक्षा न तो मनुष्य में आत्मनियंत्रण का विकास कर रही है, न ही स्वाध्याय का। विद्यार्थी अपने कर्तव्यों से विमुख हो रहा है। यथार्थ तथा आदर्श में शिक्षा भेद करती है। अंततोगत्वा जब बालक यथार्थ को आदर्शों से भिन्न देखता है तो वह असहाय हो जाता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति और मूल्यों में कोई समन्वय नहीं है। भाषण, नोट्स तथा बने बनाये उत्तरों को दोहराने का कौशल ही शिक्षार्थी की परीक्षा का मापदण्ड है। शिक्षार्थी अपने अस्तित्व को न तो पहचान पाता है, न ही पुस्तकीय ज्ञान सेउसकी कोई सहायता होती है। ये गिरते हुए मूल्य हमारी शिक्षा के लिए एक चुनौती है। इन्हें शिक्षा में सुधार के द्वारा ही सुधारा जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके माध्यम से बालक सत्य के आधार पर अहिंसा द्वारा प्रेमपूर्वक जीवन यापन करना सीखें। हमें ऐसा मनुष्य बनाना है जो स्वयं स्वेच्छा से शाश्वत मूल्यों के पालन का प्रयास करे, जिससे व्यक्ति, समाज सभी का कल्याण संभव हो। इसके लिए शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा कोजागृत करना आवश्यक है जिसके लिए आध्यात्म की आवश्यकता है। अतःशिक्षा में आध्यात्म को भी स्थान देना चाहिए। तभी मूल्यों का धारासायी वृक्ष पुनः खड़ा हो सकता है। अन्यथा आज की शिक्षा के स्तर को देखते हुए भारतीय संस्कृति के मूल्यों का संरक्षण बहुत ही दुष्कर प्रतीत होता है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि वह स्वयं क्या है? उसके कर्तव्य क्या हैं? उसे जीवन में किसे प्राथमिकता देनी है? निष्ठाओं का टकराव क्यों होता है? तभी वह अच्छे मूल्यों का विकास कर सकता है। इनका संबंध पाठ्यक्रम, पाठ्यवस्तु एवं परीक्षा से भी जुड़ा हुआ है।

मूल्यपरक शिक्षा में शिक्षार्थी को अधिक से अधिक अनुभव से जोड़ना चाहिए तथा विद्यालय में विभिन्न महापुरुषों की जयन्ती तथा धार्मिक उत्सवों का भी आयोजन करना चाहिए। विद्यालय में समय-समय पर भाषण, संगोष्ठी, निर्देशन, ट्यूटोरियल आदि को अपनाया जा सकता है। छात्रों में आपसी सहयोग एवं सद्भावनाके माध्यम से धर्मों के प्रति आदर की भावना के विकास के लिए अधिकाधिक अवसर प्रदान किए जाने चाहिए। शिक्षक वैयक्तिक मूल्यपरक शिक्षण तभी दे सकता है, जब उसमें स्वयं अच्छे मूल्य विकसित होंगे। शिक्षक में यदि स्वयं ही अच्छे मूल्य होगें तो छात्र शिक्षक को उदाहरण के रूप में प्रेरणा बना सकता है। जिस प्रकार कहावत है कि 'उपदेश से उदाहरण श्रेष्ठ है' इसी के आधार पर कह सकते हैं कि शिक्षक का स्वयं का आचरण भी ऐसा होना चाहिए कि उसका व्यक्तित्व छात्रों के लिए अनुकरणीय बन जाए क्योंकि प्राय:हर छात्र का आदर्श उसका शिक्षक ही होता है। वह वही कार्य करने की चेष्टा करता है जो शिक्षक करता है। शिक्षक जिन मूल्यों को छात्रों को देना चाहता है वह स्वयं उसके अन्दर भी होने चाहिए।

मूल्यों के विकास हेतु ही शिक्षा में सुधार हेतु नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति सामने आई है। नई शिक्षा नीति ने प्रयास कियाहै कि शिक्षा की प्रक्रिया की रूपरेखा पुनः तय की जाए तथा लोगोंको यह महसूस कराया जाए कि किस तरह से वे शोषण, असुरक्षा आदिको रोक सकते हैं। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे छात्र में सत्य, सहयोग, कर्तव्य-परायणता आदि का विकास हो। बच्चेसबसे पहली शिक्षा माता-पिता से लेते हैं। अतः माता-पिता का व्यवहार मूल्य पर आधारित होना चाहिए। वर्तमान पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्य संबंधी अंशों को बढ़ाना चाहिए।पाठ्य पुस्तकों में भी नैतिक मूल्य संबंधी अंश होने चाहिए।

वर्तमान समाज में मूल्यों काह्रास हमारी शिक्षा के लिए एक गंभीर चुनौती है जिसे स्वीकार करके हीशिक्षा को मूल्यों का विकास करना होगा तथा शिक्षा में सुधार द्वारा ही इन मूल्यों के ह्रास को रोका जा सकता है। राष्ट्र और समाज के विकास के लिए शिक्षा ही प्रमुख साधन है जिसके द्वारा मानव का कल्याण हो सकता है। कुशिक्षा स्वयं के लिए ही नहीं अपितु समाज व राष्ट्र के लिए भी हानिकारक होती है। अतः शिक्षा में मूल्यों पर बल देना चाहिए।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

4. मूल्यों के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

4.5 विद्यालय के संदर्भ में मूल्य का निर्माण

विद्यालय में प्रति क्षण किसी न किसी रूप में मूल्यों का शिक्षण होता रहता है। इसकी अभिव्यक्ति नकेवल पाठ्यक्रम वरन विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के मध्य की अंतर्क्रियाओं में भी होती है। विद्यालय में दिए जाने वाले कुछ अनुभवों की योजना जानबूझ कर बनाई जाती है तथा उनके माध्मय से अपेक्षित तथा प्रायः सुपरिभाषित पाठ्यचर्या केउद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए जाते हैं। औपचारिक पाठ्यचर्या का निर्माण करते समय उसे मूल्य आधारित बनाया जा सकता है। पाठ्यचर्या का कुछ भाग औपचारिक यालिखित रूप में सुनिश्चित नहीं होता है। अनेक अनुभव आधारित भाग योजना बनाने के बाद भी जोड़े जाते हैं। मूल्य ऐसी अदृश्य पाठ्यचर्या के भी अंश होते हैं।

विद्यालय में बच्चों को मूल्यों की शिक्षा दी जा सकती है परंतु उन्हें मूल्य सिखानाअत्यन्त कठिन कार्य है। हमें विभिन्न कक्षाओं के लिए अलग से पाठ्यक्रम बनाने तथा अलग-अलग मूल्यों के शिक्षण से बचना होगा। विद्यालयी विषयों के अध्यापक को मूल्यों की शिक्षा से संबद्ध करके विभिन्नमूल्यों को विकसित करने के लिए उपयुक्त शिक्षण काप्रयोग करके विद्यार्थियों कोवांक्षित मूल्यों को आत्मसात करने हेतु उपयुक्त अवसर उपलब्ध कराने चाहिए।

हमेशा प्रश्न उठता है कि मूल्यों की शिक्षा किस उम्र में दी जाए। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि बाल्यावस्था में ही शिक्षा के द्वारा बच्चों में मूल्यों का विकास किया जा सकता है। विद्यालय शिक्षा का औपचारिक एवं सक्रिय माध्यम है, जहाँ समाज के सुव्यवस्थित तथा योग्य सदस्य बनने के लिए बालकों को तैयार किया जाता हैं। विद्यालय के वातावरण का प्रभाव छात्रों के जीवन पर पड़ता है। यह बालकों में उच्च आदर्शों तथा मूल्यों का विकास करने में सहायक है। जैसा कि कहा जाता है-Values are never taught but caught. इस दृष्टि से विद्यालय पाठ्यक्रम को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि सभी विषयो में मूल्यों से जुड़े पाठ सम्मिलित किए जा सकें।

विद्यालय में प्रातः काल प्रार्थना स्थल पर प्रार्थना बालकों को सद्मार्ग के लिए प्रेरित करती है तथा बालकों में स्व-मनन की आदत विकसित करती है। प्रार्थना सभा में प्रेरक प्रसंग की प्रस्तुति से बालकों में आत्मविश्वास तथा त्याग जैसे मूल्य विकसित होते हैं। राष्ट्र के महापुरूषों की जीवनी के ज्ञान से बालकों में देशप्रेम की भावना विकसित होती है। विद्यालय में पाठ्यसहगामी क्रियाओं का समय-समय पर आयोजन करने से बालको में कर्मशीलता, उत्तरदायित्व जैसे मूल्य विकसित होते हैं। उनमें सहयोग की भावना विकसित होती है। वे एक दूसरे के साथ मिलजुल कर कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। खेलकूद प्रतियोगिता से बच्चों में खेल-भावना का विकास होता है तथा Sportsman Spirit की भावना बढ़ती है।

शैक्षिक भ्रमण के लिए बच्चोंको वृद्धाश्रम, अनाथाश्रम जैसे स्थलों पर ले जाना चाहिए जहाँ जीवन की वास्तविकता को देखकर उनमें संवेदनशीलता विकसित हो सके तथा वे इसके लिए उत्तरदायी कारणों को खोज सकें। साथ ही भविष्य में इन आश्रमों की संख्या घटे उसके लिए प्रयास कर सके।

मूल्यों के विकास में अध्यापक की भूमिका चुनौतीपूर्ण होती है। वे विद्यार्थियों में मूल्यों को आत्मसात करने में अहम भूमिका निभाते हैं। इसके लिए शिक्षक इतने योग्य होने चाहिए कि वे बच्चों की अभिवृत्तियों का विश्लेषण कर सकें। साथ ही साथ वे अच्छे संदेश वाहक भी होने चाहिए।

विश्व धरोहर की सुरक्षा हेतु छात्रों में जागरूक्ता लाने के लिए पर्यटन स्थलों पर ले जाना चाहिए। अध्यापक को ऐतिहासिक धरोहर की सुरक्षा हेतु उन्हें जागरूक करना चाहिए।

विद्यालय में विभिन्न धर्मों से संबंधित पर्वों को मनाने से विद्यार्थियों में सर्वधर्म समभाव' की भावना विकसित होती है। छात्र किसी भी धर्म का हो किंतु उसे सभी धर्म की विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है। फलस्वरूप उसमें धार्मिक मूल्य विकसित होते है। यह कहा जाता है कि मूल्य शाश्वत होते हैं, ये कभी भी नष्ट नहीं होते है। मूल्यों की चमक कम हो जाने पर उन्हें शिक्षा रूपी रोशनी से पुनः चमकीला बनाया जा सकता है। भारतीय समाज अपने मूल्यों की पूर्ति के द्वारा ही अपने अतीत के गौरव की ओर जा सकता है। शिक्षा ही समाज के शाश्वत मूल्यों की रक्षा कर समाज को प्रगति की ओर ले जा सकता है। शिक्षा विद्यालयों में दी जाती है। अतः 'मूल्यों के विकास के लिए विद्यालय वातावरण लोकतांक्रि, उत्साहवर्धक, स्वच्छ एवं सौंदर्यपूर्ण होना चाहिए।

बच्चों की शिक्षा में मूल्य विकास के उद्देश्यों को देखते हुए आवश्यक है कि पाठशालाओं में इसके लिए विशेष रूप से संगठित प्रयास किए जाएँ। बच्चा केवल एक परिवार का सदस्य नहीं होता है वरन आगे चलकर उसे समाज का सदस्य बनना होता है। किसी व्यवसाय का कर्मी बनना होता है तथा राष्ट्र का अच्छा नागरिक बनना होता है। उसे इस योग्य बनाना है कि वह जीवन के मूल्यों तथा संस्कृति और सभ्यता के गौरव में अपना योगदान दे सके और यह सब तभी संभव है जब बच्चों की छोटी और नाजुक अवस्था में ही उनमें अच्छी आदतें डाली जाए। बालक को शिक्षा प्रदान करने, या उसकी शिक्षा प्राप्ति, का माध्यम औपचारिक, अनौपचारिक और निरोपचारिक कुछ भी हो सकता है, लेकिन आधार एक ही मानते हैं- बालक को शिक्षा प्रदान करना।

आज के परिवेश में देखा जा रहा है कि विद्यालय व्यवस्था भी विभिन्न पृथक-पृथक संस्कृतियों से प्रेरित रहती है जहाँ विभिन्नविचारधाराओं से प्रेरित होकर विद्यालय व्यवस्था का संचालन किया जाता है। इसके पीछे एक मात्र कारण उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रहती है। विद्यार्थीका सार्वगीण विकास उसकी शिक्षा पर निर्भर करता है और शिक्षा में जब तक मूल्य का समावेश नहीं किया जाएगा तब तक हम बच्चोंके विकास को अधूरा ही मानेंगे। मूल्य पक्ष के समावेश से ही शिक्षा विद्यार्थीकोसुसभ्य, सुसंस्कारित और सुनागरिक बनाती है।

विद्यालय संगठनों व विद्यार्थियों पर भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का असर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है। विद्यालय संगठनों की भिन्नता का न केवल शिक्षा पर वरन नैतिक मूल्यों पर भी स्पष्टतया प्रभाव पड़ता है। जिस तरह से एक बच्चे का सम्पूर्ण विकास विभिन्न आयामों पर निर्भर है और अनेकों कारक उसके विकास को प्रभावित करने के लिए उत्तरदायी रहते हैं, उसी प्रकार से एक बच्चे के मूल्यों को भी अनेकों कारक प्रभावित करते हैं जो उसके मूल्यों के विकासमें प्रभावी सहायता प्रदान करते हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

5. मूल्यों के विकास में विद्यालय की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4.6 मूल्यों के विकास और पोषण के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका

मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती वरन यह प्राप्त की जाती है। अतः मूल्यों को अनुसरण द्वारा सीखने के लिए अनुकूलवातावरण बनाने की आवश्यकता है।शिक्षा देने के लिए सभी को यथोचित भूमिका का निर्वाह करना, परस्पर विचार-विमर्श विधियों का उपयोग करना उपयुक्त होता है। सद्चरित्र अध्यापक मूल्यों की शिक्षा दे सकता है।

मूल्यपरक शिक्षा में धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक,न्याय, स्वतंत्रता, सामाजिक अस्तित्व, विश्व बंधुत्व, शांति, प्रेम, सत्य, आध्यात्मिक आदि तत्वों को शामिल करना चाहिए। मूल्यपरक शिक्षा का कोई अलग से पाठ्यक्रम बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह सभी मूल्य विभिन्न विषयों में निहित रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अध्यापक इन मूल्यों को अपने शिक्षण विषयों में पहचानें और विद्यार्थियों में इनके विकास हेतु प्रयास करें।

शिक्षकों को स्वयं के लिए मूल्यों का निर्धारण करना होगा, उन्हें इन मूल्यों के विकास के लिये स्वयं सक्रिय रहना होगा। उन्हें मूल्यों के लिए अपनी संस्कृति से परिचित होना होगा, मूल्यों के लिए अपनी प्रतिबद्धता विकसित करनी होगी तथा मूल्यों के शिक्षण हेतु शिक्षण योजना विकसित करनी होगी।

शिक्षक कुछ घटनाओं, व्यक्तियों व व्यवहारों को विद्यार्थियों की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। विद्यार्थियों से सम्बंधित शिक्षक के सभी क्रियाकलापों में उसके मूल्यों की झलक मिलती है।

वास्तव में छात्रों मेंमूल्यों का विकास अध्यापक के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। वे छात्रों में मूल्योंको आत्मसात करने की प्रक्रिया में अहम भूमिका निभाते हैं।

वर्तमान में विद्यालयों के अधिकांश शिक्षक सुनियोजित मूल्य शिक्षा देने का प्रयत्न ही नहीं करते। आज मूल्यों को कल्पनाकी बात समझा जाता है, थोथे आदर्शों की संज्ञा दी जाती है। छोटी-बड़ी बातों को अपनी व्यक्तिगत बात या मामला कहकर अनेक बार उन्हें विचार-विमर्श के दायरे से बाहर कर दिया जाता है। कई शिक्षक समाज में मूल्यों के ह्रास की आड़ में मूल्य शिक्षा की प्रभाव को संदेह की नजरों से देखते हैं तो कुछ शिक्षक विषय वस्तु को रटने/याद करने पर अधिक बल देते हैं। वह उनके मूल्य निहितार्थों की परवाह नहीं करते हैं। इन सभी बातों के बावजूद सत्य यह है कि शिक्षक मूल्यों का प्रतिपादन करें, उस पर बल दें तथा मूल्य विषयक बातों व समस्याओं पर चर्चा करें। अनेक शिक्षक मूल्य शिक्षण को एक नाजुक मामला मानते हैं वे अपनी व्यावसायिक तैयारी को मूल्यों की शिक्षा देने के लिए अधिक उपयोगी नहीं मानते हैं। अपर्याप्त तैयारी के कारण वे विद्यार्थियों को मूल्यों की शिक्षा नहीं दे पाते हैं। कुछ शिक्षक ऐसे भी होते हैं जिनकी उन मूल्यों में आस्था नहीं होती जिन्हें वे पढ़ाते हैं। जब विद्यार्थी शिक्षक की बातों व व्यवहार में, कथनी-करनी का अंतर देख लेता है तब मूल्यों की शिक्षा निष्प्रभावी हो जाती है।

बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। वे बंदर के समान अपने अध्यापक की प्रत्येक क्रिया का अनुसरण करते हैं। अध्यापक का बोलना, उनका उच्चारण, उनकी भाषण-शैली, उनकी वेश-भूषा, उनकी चाल-ढाल सभी का वह अनुसरण करते हैं। अतः यदि अध्यापक सावधान नहीं है तो बच्चे उनकी त्रुटियों का अनुकरण करके उन्हें शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं। अध्यापक में किसी प्रकार का व्यसन नहीं होना चाहिए। यदि दुर्भाग्यवश कोई व्यसन हो तो उसे छात्रों से छिपाना चाहिए।

मूल्य शिक्षा देते समय शिक्षकों को निम्न प्रश्नों पर भी विचार करना चाहिए :

- क्या दृश्य या अदृश्य पाठ्यचर्या में अन्तर है?
- क्या लिखित नियमों के पालन पर बल दिया जाता है?
- क्या विद्यार्थी क्रियाकलापोंके महत्व पर चर्चा की जाती है?
- क्या शिक्षक को कक्षा में विद्यार्थियों के मूल्य पर चर्चा करनी चाहिए?
- क्या मूल्यों पर विचार- विमर्श हेतु शिक्षक को विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करना चाहिए?
- क्या कोई विषय ऐसा भी है जिसके माध्यम से मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती है?

अतः शिक्षक अपने छात्रों को मूल्य शिक्षा दे सकता है। यह कठिन नहीं है। उसे केवल अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। कोठारी कमीशन ने शिक्षा को राष्ट्रीय विकास का आधार मानने पर बल दिया है। राष्ट्रीय विकास हमारे नागरिकों की नैतिकता पर निर्भर करता है। अतः आवश्यकता है कि हम विद्यालयों को नैतिक एवं चरित्रवान अध्यापक उपलब्ध कराने का हर संभव प्रयास करें।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

6. मूल्यों के विकास व पोषण के संदर्भ शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4.7 सामाजिक संघर्ष की चुनौतियाँ और शांति स्थापना

आज देश सामाजिक कुरीतियों, सांस्कृतिक धरोहर के प्रति नफरत, भाषावाद, जातिवाद, प्रांतीयता, साम्प्रदायिकता व विविध संकीर्ण भावनाओं के चंगुल में बुरी तरह फँसा प्रतीत होता है। जितना ही हम स्थिति सुधारने हेतु प्रयत्न करते हैं उतना ही अधिक हम और उलझतेजाते हैं। लोगों में 'परम्पर प्रेम, स्नेह, सहानुभूति सहयोग, ईमानदारी, सहिष्णुता, उदारवादिता, आत्म-सम्मान, कर्तव्यनिष्ठा, विवेकशीलता, विनम्रता तथा आत्मानुशासन में कमी दिखाई देने लगी है। अनैतिक आचरण करने से लोगों का परहेज धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। हिंसा हमारे जीवन में प्रवेश कर चुकी है व बाहु बल सम्पन्नमानव, संस्कृति व मूल्यों के कुचलने का कुचक्र रच रहे हैं। लोग आलसी होते जा रहे हैं, दूसरों का हिस्सा छीनकर स्वयं ले रहे हैं, बेईमानी करके पैसा बटोरना उनके व्यवहार मे शामिल हो गया है, पड़ोसी की भूख-प्यास, कठिनाइयों, विपत्तियों, कष्टों; बीमारी व अशिक्षा से उन्हें कोई सरोकार नहीं रहता। अमानवीय प्रवृति के लोग संपूर्ण समाज के मूल्यों को दूषित व नष्ट करने में गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं। कैसी विडम्बना है किमनीषियों के भारत के नागरिकों का जमीर, अंतःकरण व आत्मा सुषुप्त व असहाय अवस्था में सोई हुई है। इस अवस्था में मानव को पहुँचाने का श्रेय घर तथा समुदाय को जाता है। अन्याय, अशांति, संघर्ष व अलगाव के युग के अंत के लिए यह जरूरी है कि समाज के सदस्य बच्चों में मूल्यों को विकसित करने हेतु प्रयास करें तथा विद्यालय में मिलने वाली मूल्य शिक्षा के समर्थन हेतु उपयुक्त वातावरणका निर्माण करें।

मूल्यों के संदर्भ में समाज के समक्ष चुनौतियाँ :

वर्तमान समाज में मूल्यों की कमी महसूस की जा रही है। आदर्श मानवीय मूल्यों का लोप हो रहा है। वाणी और व्याख्यानों में मूल्य सुनने को मिलते हैं लेकिन व्यवहार में उनका दर्शन दुर्लभ है। हमारी प्राचीन संस्कृतिबिलख रही है, उसके आंसू पोछने वाला कोई नहीं है। तुलसीदास की रामचरित मानस पुस्तक में अंकित कलिकाल का वर्णन साकार हो रहा है। आज आतंकवाद का बोलबाला है। रक्तपिपाशु मानव भाई बंधुओं का खून कर रहा है।सामूहिक नर संहार हो रहे हैं। लोगों में भाई चारे की जगह नफरत, प्रेम की जगह घृणा, सहानुभूति की जगह द्वेष, सहयोग के स्थान पर असहयोग, ईमानदारी के स्थान पर बेईमानी, अनुशासन के स्थान पर अनुशासनहीनता का साम्राज्य है। मनुष्य में विनम्रता, विवेक और नैतिकता का अभाव है। वह मानवता से नीचे गिरकर खोखला और हृदयहीन हो चुका है। जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत सामने आ रही है। सड़क पर छटपटाते दम तोड़ रहे मनुष्य की ओर देखना पाप समझा जाता है। धन को पाने के लिए मनुष्य पागल हो गया है। उसे पाने के लिए वहपाप करने में भीनहीं चूकता।

ऐसे अहंकारी और दानवी संस्कृति के लोग क्या हमें शांति और संतोष दे सकेंगे? आज यह प्रश्न सबके सामने है, पर इसका समाधान कहीं नहीं। आखिर मनुष्य को इस स्थिति में पहुँचाने का दोषी कौन है? शायद इसका उत्तर मिलेगा'हमारा समाज'। परिवारों से ही समाज बनता है। तो क्या परिवार दोषीहै या परिवार से बना समाज। इस स्थिति के लिए हमारे परिवार और समाज दोनों गुनहगार हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हीं बातों, उन्ही मूल्यों को फिर से अपने अंदर लाएँ जिनके अभाव में हमारी यह दुर्दशा हो रही है। हमारे बच्चों को स्कूल, समाज तथा घर-परिवार में जो वातावरण मिल रहा है उसमें परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। बच्चे पुनीत और पवित्र होते हैं। उन्हें बिगाड़ने या बनाने के लिए जिम्मेदार हैं- हमारे परिवार और समाज। आज परिवार और समाज को सचेत होना होगा, अपने वातावरण और आचरण को सुधारना होगा।

इन सबका सारांश यही है कि हम अपने मूल्यों के मार्ग से भटक गए हैं। अपने मानवीय मूल्यों को हमें अंगीकृत करना होगा। विद्यालयों में मूल्य शिक्षा की व्यवस्था और उसके लिये उचित वातावरण का निर्माण करने में सहयोग देना होगा।

मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका :

समाज रीतियों एवं कार्यप्राणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं कीएकव्यवस्था है। इस परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है जोहमेशा परिवर्तित होता रहता है।

आत्मा का विकास मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाता है। सामाजिक पर्यावरण बच्चे की प्रवृत्तियों में सुधार करके उसको सामाजिक दशाओं के अनुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देता है। सामाजिक विरासत में व्यक्ति अपनी प्रथाओं, परंपराओं और नियमों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है। सामाजिक विरासत व्यक्ति के बहुत से व्यवहारों को दिशा प्रदान करती है। हमारे जीवन में ऐसा कोई व्यवहार नहीं जो हमारी सामाजिक विरासत द्वारा प्रभावित न हो।

मनुष्य के द्वारा बनाई गई संस्कृति समाज को प्रभावित करती है। संस्कृति में हम उन सभी विचारों, धर्म, नैतिकता, परंपरा, प्रथा, उपकरणों और भौतिक वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं जिन्हें मनुष्य ने समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त किया है। संस्कृति के ये सभी प्रतिमान इस बात का निर्धारण करते हैं कि समाज अपने सदस्यों को किस प्रकार का प्रशिक्षण देगा, उन्हें कौन-कौन से व्यवहार सिखायेगा, शिष्टता और नम्रता के नियम कैसे होंगे, व्यक्तियों के व्यवहार पर किस प्रकार का नियंत्रण रख सकेगा, समाज किन परपराओं को अधिक महत्व देगा। विचार, विश्वास तथा प्रथाएँ भी सामाजिक व्यवहार के स्वरूप को प्रभावित करती है। संस्कृति का भौतिक पक्ष वेशभूषा, उपकरण और यंत्र आदि सामाजिक संरचना की प्रकृति को प्रभावित करते हैं। यही कारण है कि संस्कृति के भौतिकवादी होने से समाज में औपचारिक संबंधों का विकास होता है। आध्यात्मवादी संस्कृति एक सरल समाज का निर्माण करती है।

निरंकुश समाज में शिक्षा बल तथा आदेश द्वारा दी जाती है। छोटी-छोटी गलतियों के लिए शारीरिक दण्ड दिया जाता है। हिटलर की आज्ञा के अनुसार जर्मनी में देशप्रेम व राज्य के हित के लिए सभी प्रकार का बलिदान करने की शिक्षा दी जाती थी। जनतंत्रीय समाज में व्यक्ति का दमन नहीं किया जाता व विद्यार्थियों को स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा ग्रहण करने की अनुमति दी जाती है।

समाज में बच्चों के शारीरिक विकास के लिए व्यायामशाला, अखाड़ा, क्रीड़ास्थल आदि की व्यवस्था होती है, स्वास्थ्य के लिए टीका लगाने, सक्रांमक रोगों से रक्षा व स्वच्छता के लिए प्रबंध किए जाते हैं। चिकित्सालय खोले व सचांलित किए जाते है, मनोरंजन हेतु पार्क उद्यान, तरणताल, भ्रमण-स्थल आदि की व्यवस्था की जाती है। मानसिक व सामाजिक विकास के लिए पुस्तकालय, चलचित्रों/सिनेमा, वाचनालय, रेडियो कार्यक्रमों, दूरदर्शन कार्यक्रमों नाटकों के मंचन, कठपुतली शो, प्रदर्शनी व मेला, भाषण आदि की व्यवस्था की जाती है। मूल्य संकट या मूल्य दुविधा की स्थिति में संबंधित विषयों में वादविवाद व निबंध लेखन प्रतियोगिताएँ संचालित की जा सकती हैं। इन सभी क्रियाओं का प्रभावी आयोजन करके बच्चों में आध्यात्मिक, धार्मिक, चारित्रिक विकास,वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पर्यावरण संरक्षण, देश की सांस्कृतिक धरोहर के प्रति आदर, नम्रता, परोपकार, सहनशीलता, कर्तव्यपरायणता, धैर्य, अनुशासन, श्रमनिष्ठा व उच्च चारित्रिक श्रेष्ठता आदि मानवीय गुण विकसित किए जा सकते हैं। विभिन्न सामाजिक संगठन राष्ट्रीय व अन्य उत्सवों व समारोहों का आयोजन करके, विद्यालयों में मूल्य चर्चा हेतु वक्ताओं को आमंत्रित कर तथा विभिन्न सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं पर खुला मंच कार्यक्रम का आयोजन कर मूल्यों के विकास में उल्लेखनीय योगदान दे सकते हैं। अपने समाज में लोगमूल्यों से विमुख हो रहे हैं समाज में मूल्यों के

विकास हेतु मूल्य की शिक्षा देना आवश्यक है। सर्वप्रथम हमें स्वस्थ चरित्र वाले राजनीतिज्ञों के हाथों में अपने देश की बागडोर सौपनी होगी। फिर प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार व दुराचरण से नागरिकों को मुक्ति दिलानी होगी। जब पूरे सामाजिक वातावरण में मूल्य व्याप्त हो जाएँगे तब बच्चे अनुकरण कर आसानी से अपने मूल्यों का विकास कर सकेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्यों के विकास में समाज की भूमिका महत्वपूर्ण है। विद्यालय, परिवार व समाज तीनों को मूल्यों की शिक्षा में रुचि लेनी चाहिए।मूल्यों के विकास के लिए अधिगम अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए। मूल्योंसे युक्त आचरण को स्वीकृत, पुरस्कृत, अनुमोदित तथा संभव बनाने के लिए अथक प्रयत्न करने चाहिए। निर्धनता के अभिशाप से भारतवासी को मुक्त कराना है तथा मूल्यों में आस्था न रखने वालों से देश को बचाना है। समाज मूल्यों के विकास में विद्यालय को प्रभावी सहयोग दे सकते हैं।

अपनी प्रगति की जाँच कीजिए

7. मूल्यों के संदर्भ में समाज के समक्ष कौन-कौन सी चुनौतियाँ हैं?
8. मूल्यों के संदर्भ में उपर्युक्त चुनौतियों का सामना करने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

4.8 सारांश

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि मूल्य ऐसी आचार संहिता या सद्गुण हैं जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करते हैं, उसकी जीवन पद्धति का निर्माण करते हैं। इसमें मनुष्य की धारणाएँ, विचार,विश्वास, मनोवृत्ति, आस्था आदि का विकास प्रमुख है। समाज में प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह सत्य,न्याय, भ्रातृत्व आदि शाश्वत मूल्यों का पालन करे।

आज के छात्र भावी समाज के निर्माता हैं। अत: छात्रों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे उनमें मूल्यों का विकास हो। शिक्षा द्वारा ही मूल्यों का विकास हो सकता है। राष्ट्र एवं समाज के विकास के लिए शिक्षा ही प्रमुख साधन है जिसके द्वारा समाज में मूल्यों के ह्रास को रोका जा सकता है।

4.9 अपनी प्रगति की जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

प्रश्न क्रमांक 1 तथा 2 के लिए अध्याय 4.2 देखें।
प्रश्न क्रमांक 3 के लिए अध्याय 4.3 देखें।
प्रश्न क्रमांक 4 के लिए अध्याय 4.4 देखें।
प्रश्न क्रमांक 5 के लिए अध्याय 4.5 देखें।
प्रश्न क्रमांक 6 के लिए अध्याय 4.6 देखें।
प्रश्न क्रमांक 7 तथा 8 के लिए अध्याय 4.7 देखें।

4.10 **शब्दावली**

आत्म निरीक्षण
आधारभूत मूल्य
आध्यात्मिक मूल्य
चेतना
चरित्र
जन-शिक्षा
धार्मिक शिक्षा
नैतिक शिक्षा
निरक्षरता
पाठ्यक्रम
पाठ्यचर्या
पाठ्य सहगामी क्रियाएँ
प्रतिमान
प्राथमिक शिक्षा
प्रौढ़ शिक्षा
मनुष्य की प्रकृति
मनोवैज्ञानिक आधार
माध्यमिक शिक्षा
मानवीय शिक्षा
मूल्य
मूल्य-शिक्षा
राष्ट्रीय शिक्षा नीति
विचारधारा
संस्कृति
समता मूलक समाज

4.11 संदर्भ पुस्तकें

1.ईश्वर दयाल गुप्त, मूल्य परक शिक्षा और समाज, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली।
2.चाँद किरण; शिक्षा : दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
3.बी.एस. डागर; शिक्षा तथा मानव मूल्य, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला।
4.शोभा गोलवलकर एवं श्रीमती सीमा सिंह भाटी, मूल्य शिक्षा, राधा प्रकाशन, आगरा।